

# दिग्दर्शन

जैन न्याय दर्शन

जैन विद्या संस्कृति  
1000 प्रश्नों में न्याय के  
प्रश्न इस  
पी.डी.एफ में मिलेंगे

लेखक

ऐलकश्री सिद्धांतसागरजी महाराज

सम्पादन

ब्र. जिनेश मलैया

प्रधान सम्पादक – संस्कार सागर मासिक पत्रिका, इन्दौर



प्रकाशक

श्री दिगंबर जैन युवक संघ

केंद्रीय कार्यालय : श्री दिगंबर जैन पंच बालयति मंदिर

सत्यम् गैस के सामने, ए.बी. रोड, इन्दौर (म.प्र.)

फोन :- 0731-2571851, मो.: 8989505108

- दिग्दर्शन : जैन न्याय दर्शन
- लेखक – ऐलक श्री सिद्धांतसागरजी महाराज
- सम्पादन – ब्र. जिनेश मलैया, इन्दौर  
(प्रधान सम्पादक-संस्कार सागर, इन्दौर)
- प्रथम आवृत्ति – 16 मई 2015
- संस्करण : 1100

उपलक्ष्य : आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज के प्रिय शिष्य

ऐलकश्री सिद्धांतसागरजी महाराज रजत (25 वें) दीक्षा वर्ष के उपलक्ष्य में

पुण्यार्जक : डॉ. पारस नरेन्द्र जैन (सिलवानी) श्री वैभव वीरेन्द्र नायक (सिलवानी)  
श्री अमित राजेन्द्र जैन (सिलवानी) श्री अविनाश श्रीपाल जैन (सिलवानी)  
श्री विक्रान्त विनोद जैन (सिलवानी) श्री जितेन्द्र ऋषभ जैन (सिलवानी)

प्रकाशक : श्री दिगंबर जैन युवक संघ

केंद्रीय कार्यालय : श्री दिगंबर जैन पंच बालयति मंदिर  
सत्यम् गैस के सामने, ए.बी. रोड, इन्दौर (म.प्र.)  
फोन :- 2571851, मो.: 8989505108

प्राप्ति स्थान

- 1) श्री दि. जैन पंचबालयति मंदिर  
विद्यासागर नगर, बॉम्बे हॉस्पिटल के पास  
ए.बी. रोड, इंदौर (म.प्र.) 0731-2571851, मो.: 9303137091
- 2) ब्र. जयकुमार 'निशान्त' प्रतिष्ठाचार्य  
पं. मन्मूलाल जैन प्रतिष्ठाचार्य स्मृति ट्रस्ट  
पुष्प भवन – टीकमगढ़ (म.प्र.), फोन : 07683-243138
- 3) अरिहंत साहित्य सदन  
4, रेनबो विहार, मेरठ रोड़, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.), फोन : 0131-2433257
- 4) गजेन्द्र ग्रंथमाला  
2578, धर्मपुरा, दिल्ली-6, मोबाईल : 098100-35356
- 5) जैन साहित्य सदन  
श्री दिग. जैन लाल मंदिर, चांदनी चौक, दिल्ली-06, फोन : 11-23253638
- 6) अमर ग्रंथमाला  
श्री दि. जैन उदासीन आश्रम, एम.जी. रोड़, इन्दौर  
मो. : 094254-78846

न्यौछावर राशि : सौ रुपये मात्र

मुद्रक : मोदी प्रिन्टर्स, 76-बी पोलोग्राउण्ड इण्डस्ट्रीयल इस्टेट, पत्रिका प्रेस के पीछे, इंदौर (मो. 98260-16543)

\*सर्वाधिकार सुरक्षित प्रकाशकाधीन

## अनुक्रमणिका

1. भारतीय दर्शनों में न्याय की विवेचना	8
2. क्या है जैन न्याय	10
3. जैन न्याय परम्परा के संवाहक आचार्य	12
4. जैन न्याय का प्रतिनिधि साहित्य	15
5. भारतीय न्याय में प्रमाण का स्वरूप	19
6. भारतीय दर्शनों में उपलब्ध प्रमाण लक्षणों की समीक्षा	23
7. प्रमाण के भेद और भारतीय दर्शन	27
8. भारतीय दर्शन में उल्लेखित प्रमाण भेदों की समीक्षा	31
9. सन्निकर्षवाद की समीक्षा (नैयायिक) वैशेषिक	35
10. कारक साकल्यवाद की समीक्षा (नैयायिक) वैशेषिक	38
11. प्रमाण लक्षण – इन्द्रिय व्यापार की समीक्षा (सांख्य)	40
12. ज्ञातृ व्यापार मीमांसक प्रमाण लक्षण की समीक्षा	42
13. धारावाहिक ज्ञान प्रमाण का लक्षण कैसे ? मीमांसक-वैशेषिक-न्यायदर्शन	46
14. सांख्य के अचेतन ज्ञानवाद की समीक्षा	48
15. अविश्ववादी विशेषण प्रमाण के लक्षण में कितना मूल्यांकन	52
16. परोक्षवाद मीमांसक	52
17. निर्विकल्प ज्ञानवाद (बौद्ध)	56
18. साकार ज्ञानवाद (बौद्ध) सौत्रान्तिक बौद्ध	63
19. ज्ञानान्तर ज्ञानवेदवाद (नैयायिक)	68
20. जैन न्याय दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा	72
21. अलौकिकार्थ ख्याति विपर्ययवाद की समीक्षा ब्रह्म द्वैतवाद	73
22. अनिर्वचनीयार्थ ख्यातिवाद विपर्यय की समीक्षा (सांख्यमत)	74

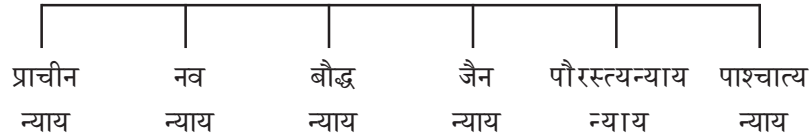
23. प्रसिद्ध ख्यातिवाद विपर्यय का विचार विमर्श	75
24. आत्मख्याति विपर्ययवाद की समीक्षा	76
25. असत् ख्याति विपर्यय और एक चिंतन	77
26. भारतीय दर्शन विपर्यय ज्ञान की विभिन्न अवधारणायें	79
27. विवेक ख्याति विपर्यय की समीक्षा	80
28. अख्यातिवाद विपर्यय की समीक्षा	84
29. द्रव्यभाव इन्द्रवाद की समीक्षा (जैन)	85
30. अर्थ और प्रकाश को ज्ञान का कारण मानने की समस्यायें	86
31. भारतीय दर्शनों में सर्वज्ञत्व का चिंतन	88
32. उपमान स्वतंत्र प्रमाणवाद (न्यायदर्शन अनुसार)	92
33. उपमान का प्रत्यभिज्ञान में अंतर्भाव कैसे होता है	95
34. जैन दर्शन का परोक्ष प्रमाण	98
35. अभाव प्रमाण की श्रेणी में पृथक् से क्यों नहीं	100
36. प्रत्यभिज्ञान की प्रमाण रूप सिद्धि	103
37. तर्क का मूल स्वरूप	107
38. प्रत्यभिज्ञान प्रमाण क्यों ?	110
39. स्मृति अप्रमाणवाद की समीक्षा	115
40. अर्थापत्ति प्रमाण को पृथक् प्रमाण मानने में आपत्ति	119
41. अनुमान प्रमाण की आवश्यकता क्यों ?	122
42. एक हेतु अनुमान अवयववाद (बौद्ध)	124
43. पंच अवयवी अनुमानवाद की समीक्षा (न्याय)	126
44. सांख्यमान्य सप्तहेतुवाद की समीक्षा	127
45. पंचहेतु भेदवाद की समीक्षा	128
46. त्रिलक्षण हेतु रूपवाद की समीक्षा (बौद्ध)	130

47. द्विहेतुभेदवाद की समीक्षा (बौद्ध)	132
48. पंच रूप हेतु लक्षणवाद की समीक्षा	134
49. बौद्ध मत में मान्य शब्द अप्रमाणवाद	135
50. शब्द अनुमान गर्भितवाद	138
51. शब्द अर्थ नित्य संबंधवाद	140
52. आगम प्रमाण के अंतर्गत वेद अपौरुषेयवाद का मूल्यांकन	142
53. शब्द अर्थ अन्यापोहवाद की समीक्षा (बौद्ध)	146
54. शब्द अर्थ सामान्यवाद की समीक्षा	151
55. संस्कृत शब्द अर्थ वाचकवाद की समीक्षा	155
56. शब्द नित्यवाद की समीक्षा	158
57. स्फोटवाद और उसकी समीक्षा	164
58. न्याय के आलेख (चार्ट)	168
59. विश्व के प्रमुख दार्शनिक वादों का समीक्षात्मक अध्ययन	202
60. विश्व दर्शनों के प्रमुख वादों की सूची	209

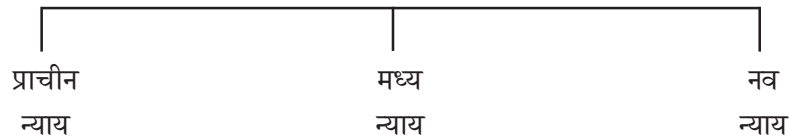
## न्याय की संक्षिप्त भूमिका

- दर्शन का प्रवेश द्वार न्याय है।
- संस्कृत साहित्य के किसी भी विषय के बिना न्याय के नहीं समझा जा सकता है।
- न्याय और व्याकरण ये दोनों प्रौढ पाण्डित्य को आधार देने का कार्य करते हैं।
- न्याय शास्त्र बुद्धि को सुपरिष्कृत तीव्र और विशद बनाने वाला शास्त्र है।
- वाद जल्प, आत्मा की सत्ता साधन की खोज में न्याय का अविष्कार हुआ है।
- प्रमाणैरर्थ-परिक्षण न्याय।
- न्याय के अर्थ परीक्षा और तत्वाध्वसाय संरक्षण करना दो कार्य हैं।

### न्यायशास्त्र का वर्गीकरण बाह्य स्वरूप परिवर्तन के आधार पर



### न्याय के इतिहास काल



## मन्तव्य

जैन न्याय को व्यवस्थित करने में पं. कैलाशचंदजी सिद्धांत शास्त्री एवं डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचारी का जो योगदान रहा है, उसे मील का पत्थर कहे तो उचित ही होगा। जैन न्याय के पितामह अकलंक देव आचार्य के पूर्ववर्ती आचार्य और उत्तरवर्ती आचार्यों ने जैन न्याय का विकास करके सर्वत्र स्याद्वाद और अनेकांत की पताका को गगनचुम्बी बनाया है। लगभग 50 आचार्यों के द्वारा लिखित शताधिक ग्रंथ ही जान पड़ते हैं। उन्हें सरल और व्यवस्थित उपवन जैसा सजाने के लिए युगों से आवश्यकता महसूस होती रही है। पं. कैलाश चंद जी के जैन न्याय को आधार बनाकर लगभग छोटे-छोटे लेख तैयार किए गए जैन न्याय को सुबोध और सरल बनाने का प्रयास किया है।

दिग्दर्शन जैन न्याय दर्शन पुस्तक (ग्रंथ) के माध्यम से आने वाली नई पीढ़ी में जैन न्याय के प्रति बनी अवधारणा परिवर्तित हो इसके लिए ही प्रयास किया गया है। इस ग्रंथ के प्रकाशन में ब्र. जिनेश मलैया इन्दौर एवं सिलवानी (रायसेन) के नवयुवकों ने आर्थिक सहयोग देकर जैन न्याय के मार्ग को प्रशस्त करने में अपनी सराहनीय भूमिका निभायी है। वे सब साधुवाद के पात्र हैं। राजीव जैन बंटी सिरोंज, पवन जैन गंजबासौदा, ब्र. विशाल इन्दौर का सहयोग भी भुलाया नहीं जा सकता है। इस ग्रंथ का लाभ लेकर जैन न्याय के अधिकृत विद्वान बनेंगे।

## भारतीय दर्शन में न्याय की विवेचना

न्याय दर्शन शास्त्र को तर्कशास्त्र हेतु विद्या अथवा प्रमाण शास्त्र कहा जाता है। किन्तु इसी शास्त्र का नाम प्राचीन साहित्य में आन्वीक्षिकी नाम से भी उपलब्ध होता है। कौटिल्य अथवा चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में चार विद्याओं को उल्लेख किया है उनमें आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति प्रमुख है। त्रयी में धर्म और अधर्म का विवेचन, वार्ता में अर्थ अनर्थ का विवेचन तथा दण्ड नीति में नय अनय का कथन किया गया है। तथा हेतु के द्वारा जब किसी विचारधारा की समीक्षा की जाती है तो उसे आन्वीक्षिकी विद्या कहा जाता है। संकट और आनंद में बुद्धि को स्थिर करने के लिए यह विद्या प्रज्ञा, वचन और कर्म को कौशल प्राप्त कराती है। यह आन्वीक्षिकी विद्या सभी विद्याओं के लिए अंधेरे में प्रकाश स्तम्भ सिद्ध होती है। जितनी भी कला अथवा दार्शनिक विचार धारारें हैं उन विचाराधारों का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह आन्वीक्षिकी विद्या बहुत महत्वपूर्ण है। जैन आचार्य सोमदेव ने अपने नीति वाक्यामृत ग्रन्थ में आन्वीक्षिकी विद्या का पाठक हेतुओं के द्वारा कार्यों के बल अबल का विचार करता है। संकट में अधीर नहीं होता है और अभ्युदय उत्थान में मदोन्मत नहीं होता है। बुद्धि कौशल और वाक कौशल दोनों की प्राप्ति आन्वीक्षिकी विद्या को धारण करने वाला अवश्य ही प्राप्त होता है। मनुस्मृति के अध्याय 7 श्लोक 43 में इस आन्वीक्षिकी विद्या को आत्म विद्या कहा गया है। आचार्य सोमदेव ने इस विद्या को अध्यात्म विषय में प्रयोजनीय माना है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि सभी धर्म और दर्शनों के औचित्य को सिद्ध करने वाला यह न्याय, तर्क विद्या का औचित्य सर्वमान्य होता है।

न्यायदर्शन के विद्वान वात्स्यायन ने न्यायभाषा में लिखा है कि यह चारों विद्याएं प्राणियों के उपकार करने के लिए कही गयी हैं लेकिन आन्वीक्षिकी न्याय विद्या एक अलग ही स्थान रखती हैं। संशय आदि का कथन न किया जाये

तो यह केवल अध्यात्म विद्या मात्र हो जायेगी। प्रत्यक्ष और आगम के अनुकूल अनुमान को अन्वीक्षा कहा गया है। इसे ही अंग्रेजी में लॉजिक कहा जाता है।

न्याय शब्द की उत्पत्ति करते हुए अनेक शास्त्रकारों ने कहा जिसके द्वारा रचित और निर्बाध वस्तुत्व का ज्ञान होता है उसे न्याय कहते हैं। नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थोऽनेनेति न्यायः। न्यायकुसुमांजलि। इन्हीं न्याय विषयक ग्रन्थ में न्याय प्रवेश पंजिका में कहा गया है। नितरामीयन्ते गम्यन्ते गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्, ज्ञायन्तेऽर्थाः अनित्यत्वास्तित्वादयोऽनेनेति न्यायः तर्कमार्गः। तथा इसी प्रकार न्याय विनिश्चय ग्रन्थ में भी कहा गया है निश्चितं च निर्बाध वस्तुत्वमीयतेऽनेनेति न्यायः ऐसे ज्ञान प्रमाण के द्वारा जो होता है यही न्याय विषयक ग्रंथों का मुख्य विषय होता है। अर्थात् प्रमाण न्याय का मुख्य विषय होता है। प्रमाण के ही भेद प्रत्यक्ष अनुमान आगम आदि होते हैं। प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा वस्तुत्व को जानकार भी उसकी स्थापना और परीक्षा में हेतु वाद और युक्तिवाद का अवलंबन लेना पड़ता है। बस यहीं से दर्शन के साथ न्याय का संबंध स्थापित हो जाता है। दर्शन की गाड़ी न्याय के बिना आगे नहीं बढ़ पाती हैं। दर्शन की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला और उसे संरक्षण देने वाला न्याय होता है। इसी कारण से अक्षपाद ने न्याय शास्त्र को लेकर ही एक दर्शन की स्थापना की थी जिसे न्याय दर्शन कहते हैं। न्याय या तर्कशास्त्र का मुख्य अंग प्रमाण हैं और प्रमाण के भेदों में से भी अनुमान प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष अगोचर पदार्थों की सिद्धि अनुमान प्रमाण से की जाती हैं। और दूसरों को समझाने के लिए परार्थ अनुमान की आवश्यकता पड़ती हैं। यही न्याय की भारतीय दर्शनों में विवेचना प्राप्त होती है। इस तरह न्याय शास्त्र में अनुमान प्रमाण और उसके अंगोपांगों का मुख्यतः से वर्णन किया जाता है। बस यहीं से जैन न्याय अथवा बौद्ध न्याय जैसे स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना भी दृष्टिगोचर होती है।

भारतीय दर्शनों में विचारधारा के औचित्य को सिद्ध करने के लिए जिस पद्धति का प्रयोग किया जाता है वह तर्क पद्धति अथवा प्रमाण देने की पद्धति का नाम न्याय कहा गया है। भारतीय दर्शन में अनेक प्रकार की विचारधारारें परस्पर

में विरोध अथवा समानता से परे देखी जाती हैं। सभी विचारधारा के विचारक अपनी विचारधारा को सम्यक् सिद्ध करने की पूरी कोशिश करते हैं किन्तु उन विचारधारों की दिशा परस्पर विरुद्ध होने के कारण किसी एक विचारधारा को ही उचित माना जा सकता है सभी को नहीं। बस इन विचारधारों की परीक्षा करने के लिए जिस पद्धति को अपनाया गया वही न्याय है अन्य नहीं।



### क्या है जैन न्याय ?

विश्व के प्रत्येक धर्म दर्शन का अपना एक विशेष दृष्टिकोण होता है तथा अपनी पहचान बनाने के लिए एक विशेष विचारधारा होती है जैसे कि बौद्ध धर्म में मध्यम प्रतिपदा दृष्टि विशेष तौर पर देखी जाती है, अद्वैतदर्शन के प्रवर्तक शंकराचार्य ने अद्वैत सिद्धांत को प्रमुखता से अपना केन्द्र बनाया तथा वैशेषिक दर्शन ने पदार्थवाद को अपने चिंतन के केन्द्र में रखा। सांख्य दर्शन ने प्रकृति और प्रधान को अपनी दृष्टि का लक्ष्य बनाया। इसी तरह जैन दर्शन ने भी अनेकान्त को अपने दर्शन का मुख्य सिद्धांत सृजित किया। इसी कारण से जैन दर्शन को अनेकान्तवाद कहा जाता है। अनेकान्तवाद और जैन दर्शन दोनों शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची बन चुके हैं। वस्तु के सत् और असत् स्वरूप एक साथ एक जगह रहते हैं, नित्य और अनित्य दोनों की पक्ष एक ही वस्तु में एक समय में पाये जाते हैं। यही अनेकांत का अपना जादू है।

जैन दर्शन के आचार्य समंतभद्र देव ने स्वयंभूस्तोत्र में अरनाथ भगवान का स्तवन करते हुए 102 श्लोक में लिखा है “स्याच्छब्दावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम।” इस सूत्रवाक्य से यह स्पष्ट होता है कि स्यात् शब्द केवल जैन न्याय में हैं अन्य एकान्तवादी दर्शनों में स्यात् शब्द दृष्टिगोचर नहीं होता है। जैन दर्शन एक द्रव्य पदार्थ ही मानता है उसे मानने पर दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती है, गुण और पर्याय का आधार द्रव्य होता है और गुण

और पर्याय इस द्रव्य का अपना ही स्वरूप है। अतः किसी भी हालात में गुण और पर्याय को द्रव्य से अलग नहीं किया जा सकता है। द्रव्य के परिणमन को पर्याय जैन आचार्यों ने घोषित किया है। द्रव्य पर्याय की अपेक्षा से निरंतर कारण से द्रव्य सजातीय रूप में मिलता हो और विजातीय रूप से भिन्न प्रतीत होता हो उसे ही गुण कहा जाता है। यह गुण ही अनुवृत्ति और व्यावृत्ति के साधन होते हैं अथवा समानता-असमानता स्पष्ट करने के साधन गुण ही होते हैं। इसलिए जैन दर्शन में सामान्य और विशेष को अलग-अलग नहीं माना गया है। गुण कर्म समवाय सामान्य विशेष और अभाव यह सब द्रव्य की ही अवस्थाएं हैं, इन्हें कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं माना गया है।

जैन दर्शन में प्रमाण और नय के आधार पर वस्तु व्यवस्था को सिद्ध किया जाता है। स्व और पर का प्रकाश करने वाला ज्ञान होता है, ज्ञान आत्मा का स्वरूप है अतः उसे आत्मा शब्द से भी कहते हैं। अनंत धर्म को समेटे हुए वस्तु के किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है। नय वस्तु को केवल जब द्रव्य की प्रमुखता से ग्रहण करता है तो उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं, और जब पर्याय की प्रमुखता से वस्तु को ग्रहण करता है, तब उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। यह नय भी स्याद्वाद, अनेकांत की देन हैं, इसी से अन्य दर्शनों में इनकी ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती है। भारतीय दर्शनों में नय का अविष्कार मात्र जैन दर्शन में ही उपलब्ध होता है। अतः जैन न्याय में प्रमाण के साथ नय को भी जोड़ा गया है जबकि विश्व के समस्त दर्शनों ने अपनी न्याय पद्धति में मात्र प्रमाण को ही ग्रहण किया है। लेकिन वस्तु सत्य को जानने के लिए नय आवश्यक होता है। किसी भी वस्तु का ज्ञान जब युगपत् रूप से नहीं हो पाता है और क्रम रूप से ही जानकारियां प्राप्त होती हैं तब नय की आवश्यकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। जैन न्याय की अपनी पहचान प्रमाण और नय से स्पष्ट होती है। यद्यपि अनेकांत और स्यादवाद अथवा नय की आलोचना करने वाले अनेक दार्शनिक विद्वानों ने अपने विचार स्पष्ट किये हैं, उनमें मीमांसक दर्शन के कुमारिल भट्ट ने इस स्याद्वाद शैली

को शब्दों में तत्व को त्रियात्मक बतलाया है, रामानुज और शंकराचार्य ने मायावाद के विरुद्ध विशिष्ट अद्वैत का निरूपद करते समय अनेकांत दृष्टि का ही उपयोग किया है। अतः हम यह कह सकते हैं कि परोक्ष रूप से रामानुज शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट ने अनेकांत दृष्टि को स्वीकार किया है।

जैन दर्शन ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानता है किन्तु ईश्वर में अपनी अगाध श्रद्धा रखता है, वेदों को स्वीकार न करते हुए अवैदिक दर्शन माना जाता है, इसीलिये जैन दर्शन की गणना नास्तिक दर्शनों में की जाती है किन्तु जैन दर्शन नास्तिक नहीं अपितु कट्टर आस्तिक है क्योंकि वह परलोक भी मानता है, पुनर्जन्म को मानता है और ईश्वर को भी हृदय से स्वीकार करता है। अतः इन्हीं समस्त विभिन्नताओं के कारण जैन न्याय का उद्गम और विकास प्रारम्भ होता है।



## जैन न्याय परम्परा के संवाहक आचार्य

जैन न्याय परम्परा के ऐतिहासिक महापुरुष भगवान पार्श्वनाथ ईसा से पूर्व 800 वर्ष में हुए थे। उन्होंने जैन धर्म का अभूतपूर्व प्रवर्तन किया था। उनके 250 वर्ष बाद भगवान महावीर स्वामी हुए, भगवान महावीर के उपदेशों में बारह अंग उपलब्ध होते हैं उनमें ग्यारह अंगों में स्वमत का प्रतिपाद है। किन्तु बारहवें अंग में 363 मतों का निराकरण किया है किन्तु कालक्रम के कारण यह विवेचना आज अनुपलब्ध है। इसी तीर्थंकर परम्परा के उपरान्त जैन आचार्य कुंदकुंद देव ने इस न्याय परंपरा को आगे बढ़ाते हुए साहित्य का सृजन किया। दार्शनिकों के बीच में यह विवाद रहा कि ज्ञान को स्वप्रकाशक माना जाये अथवा परप्रकाशक माना जाये या स्वपरप्रकाशक माना जाये। आचार्य कुंदकुंद देव ने ज्ञान को स्वपरप्रकाशक मानते हुए जैन न्याय का प्रथम सूत्रपात किया, उनके ग्रन्थ प्रवचन सार में प्रत्यक्ष परोक्ष ज्ञान की व्याख्या अत्यंत गंभीर रूप से

उपलब्ध होती है। इसी परम्परा में आचार्य उमास्वामी प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं जिनके ग्रन्थ तत्वार्थ सूत्र में 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र के माध्यम से न्याय का बीज रोपित किया गया, इसी ग्रन्थ में 'मतिः स्मृतिः' संज्ञा 'चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' इस सूत्र के माध्यम से परोक्ष प्रमाणों के विशद विवेचन का आधार प्रस्तुत किया गया।

आचार्य कुंदकुंद और उमास्वामी के पश्चात् जैन न्याय परम्परा को व्यवस्थित और तार्किक रूप में प्रस्तुत करने वाले आचार्य समंतभद्र देव हुए हैं। जिनके साहित्य में न्याय और तर्क की स्थापना पूर्ण रूपेण प्रबंधित हुई है। इन आचार्य ने आप्तमीमांसा युक्तयनुशासन स्वयंभू स्तोत्र इन तीन ग्रंथों के माध्यम से जैन न्याय की स्थापना करके छह सूत्र दिये हैं -

1. अनेकांत और सप्तभंगीवाद की प्रक्रिया को प्रदर्शित करके दर्शन शास्त्र की प्रत्येक दिशा में उनका व्यवहारिक प्रयोग करने की पद्धति प्रचलित की है।
2. अनेकांत में भी अनेकांत की योजना करने की प्रक्रिया बतलाई है।
3. प्रमाण का दार्शनिक लक्षण और फल बताया है।
4. स्याद्वाद की परिभाषा स्थिर की है।
5. श्रुत प्रमाण को स्याद्वाद और विकलित अंशों को नय बतलाया है।
6. सुनय और दुर्नय की व्यवस्था दी है।

इसी क्रम में आचार्य समन्तभद्र के बाद आचार्य सिद्धसेन दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्परा में मान्य हैं। इन्होंने एकमात्र सन्मति तर्क सूत्र ग्रन्थ की रचना की है तथा आपके नाम पर बाईस बत्तीसियों की कृतियां भी मानी जाती हैं। यद्यपि इस मत में विवाद है, इन्हीं का एक न्याय अवतार ग्रन्थ भी न्याय की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

आचार्य श्रीदत्त जल्पनिर्णय के रचयिता हुए हैं जिन्हें तिरेसठ वादियों का विजेता भी कहा जाता है, अतः वे वादशास्त्र के पूर्ण पीड़ित थे। जैन न्याय के निर्माण में उनकी भूमिका अहम् रही है। इसी श्रृंखला में आचार्य पात्र केसरी हुए



हैं इनका पात्र केसरी स्तोत्र एवं त्रिलक्षण कदर्थन नामक ग्रंथ जैन न्याय को प्रगति प्रदान करने में सक्षम रहा है। मल्लवादी और सुमित आचार्य का नाम भी नयचक ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

जैन न्याय के पितामह या जनक आचार्य अकलंक देव हुए हैं, जिन अकलंक देव को वादकला में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है इन आचार्य ने न्याय शास्त्र का दूसरा नाम प्रमाण शास्त्र दिया है इन्होंने न्याय विनिश्चय सिद्धि विनिश्चय प्रमाण संग्रह लघीयस्त्रीय और अष्टशती तथा तत्वार्थ राजवर्तिक जैसे ग्रंथों की रचना करके जैन न्याय की ध्वजा को गगनचुम्बी बनाया था। इन्हीं आचार्य परम्परा में आचार्य हरिभद्र जिनका षड् दर्शन समुच्चय जैसा ग्रन्थ उपलब्ध होता है। तदुपरान्त कुमारनंदी न्याय को गतिप्रदान की। आचार्य अनंतवीर्य ने सिद्धि विनिश्चय की टीका लिखकर जैन न्याय को ऊंचाईयां दी। जैन न्याय के अमोघ तार्किक आचार्य विद्यानंद 9 वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने अष्ट सहस्री तत्वार्थ श्लोकवार्तिक विद्यानंद महोदय युक्तयनुशासन टीका, आसपरीक्षा, प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा और सत्यशासन परीक्षा जैसे ग्रन्थों को सृजित करके जैन न्याय को भारतीय दर्शनों में श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया। आचार्य अनंतकीर्ति ने जीव सिद्धि टीका, वृहत, सर्वज्ञ सिद्धि, लघु सर्वज्ञ सिद्धि जैसे ग्रन्थों की रचना की। आचार्य वसुनंदी ने आसमीमांसा वृत्ति लिखकर सिद्ध ऋषि ने न्याय अवतार वृत्ति माणिक्य नंदी ने परीक्षामुख वादीराजसूरि ने न्याय विनिश्चय विवरण और प्रमाण निर्णय जैसे वृहतकाय न्याय ग्रंथों की रचना की। आचार्य वादीभसिंह ने स्याद्वाद सिद्धि नव पदार्थ निश्चय ग्रंथ का सृजन किया। अभयदेव सूरि ने सन्मति सूत्र टीका लिखी। आचार्य प्रभाचंदजी ने प्रेमयकमलमार्तण्ड, न्याय कुमुदचंद्र जैसे विशालकाय वाडमय का सृजन किया। अनंतवीर्य ने प्रमेयरत्न माला, शांतिसूरि ने न्याय अवतार वार्तिक, वादीदेवसूरि ने प्रमाणनय तत्वालोकालंकार और स्यादवाद रत्नाकर ग्रंथों का सृजन किया। आचार्य हेमचंद्र ने प्रमाण मीमांसा भावसेन त्रिवेदी ने विश्वतत्त्व प्रकाश ग्रंथ को रचा। लघुसमंत भद्र ने अष्ट सहस्री टिप्पण, पं. आशाधर ने प्रमेय रत्नाकर, शांतिषेण ने प्रमेय रत्नसार, नरेन्द्र सेन ने प्रमाण प्रमेय

कलिका, विमलदास ने सप्तभंगी तरंगिनी ग्रंथ की रचना करके जैन न्याय को अभियुत्थान प्रदान किया। आचार्य धर्मभूषण ने न्यायदीपिका ग्रंथ की रचना करके जैन न्याय को सरल बना दिया। आचार्य अजित सेन ने न्यायमणि दीपिका, शांतिवर्णी ने प्रमेय कंठिका, चारूकीर्ति पण्डिताचार्य ने प्रमेय रत्नालंकार तथा नेमीचंद्र ने प्रवचन परीक्षा, मणिकण्ठ ने न्याय रत्न, शुभ प्रकाश आचार्य ने न्याय मकरन्द विवेचन, अभयचंद्र सूरि ने लघीयस्त्रय तात्पर्यवृत्ति, रत्नप्रभासूरि ने स्याद्वाद रत्नाकरा-वतारिका जैसी रचनाएँ जैन न्याय को दी। आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वाद मंजिरी तथा यशोविजयजी ने अनेकांत व्यवस्था एवं अष्टसहस्री विवरण जैसे ग्रंथों को सृजित करके जैन न्याय को ठोस आधार प्रदान किया।

अतः उक्त आचार्य परम्परा के लगभग बीस आचार्यों ने ईसवी की अठारहवीं शताब्दी तक सतत प्रयास करते हुए जैन न्याय को धारावाहिक रूप से हम तक पहुंचाया। हम ऐसे उपकारी आचार्यों के प्रति सदैव कृतज्ञ रहेंगे।



## जैन न्याय के प्रतिनिधि साहित्य

जैन साहित्य की परम्परा ईसा पूर्व 8 से प्रारम्भ हुई। बहुआयामी साहित्य परम्परा में न्याय की परम्परा भी आज तक प्रवाहित हो रही है, इस परम्परा में समस्त जैन न्याय वाड्मय में अनेक ग्रंथों का सृजन हुआ है। उन ग्रंथों को चार श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है।

1. न्याय को सूत्रपात करने वाले ग्रन्थ।
2. पाठ्य क्रमबद्ध न्याय ग्रन्थ।
3. उल्लेखित न्याय ग्रन्थ।
4. मुख्य ग्रंथों की टीका ग्रन्थ।

जैन न्याय को सूत्रपात करने वाले ग्रन्थों में सर्वप्रथम आचार्य भूतबलि और पुष्पदंत द्वारा रचित षट् खण्डागम ग्रंथ सर्वप्रथम माना जा सकता है। इस ग्रन्थ



के सूत्रों में सियजीवअत्थि। इस सूत्र से यह विदित होता है कि स्यात् शब्द का प्रयोग जैन न्याय का सूत्रपात प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया है। आचार्य कुंदकुंद के साहित्य में प्रवचनसार और पंचास्तिकाय दो ग्रन्थ जैन न्याय के प्रमाण और नय को एक साथ समग्र रूप से निबद्ध किया गया है। आचार्य उमास्वामी के एकमात्र ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में न्याय को बीजारोपित करने का महानकार्य किया गया है। प्रमाणनयैः रधिगमः एवं मतिःस्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्य नर्थातरम्। इन दो सूत्रों के माध्यम से न्याय के विशाल ज्ञान सागर का बोध हो जाता है, प्रमाणनयैः रधिगमः सूत्र पर अनेक ग्रंथों का सृजन हुआ है जिनमें प्रमाण परीक्षा, न्याय दीपिका और प्रमाण प्रमेय कलिका परीक्षामुख जैसे ग्रन्थों का आधार यही सूत्र रहा है। आचार्य समन्तभद्र देव के द्वारा रचित स्वयंभू स्त्रोत ग्रन्थ में अनेक श्लोकों के माध्यम से न्याय का सूत्रपात किया गया है और यही ग्रन्थ न्याय के लिए आधार बने हैं। इन ग्रंथों में प्रमाण और नय की विवेचना स्पष्ट रूप से स्थापित हुई हैं। स्वामी कार्तिकेय द्वारा रचित द्वादश अनुप्रेक्षा ग्रन्थ में भी न्याय का स्पर्श किया गया है तथा देवसेन आचार्य द्वारा रचित आलाप पद्धति ग्रन्थ में न्याय के लिए गति प्रदान करने वाले सूत्रों की रचना की गयी है।

#### पाठ्यक्रमबद्ध न्याय ग्रन्थ :-

इस श्रेणी में लगभग 40 ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। आचार्य समन्तभद्र देव के द्वारा न्याय की स्थापना करने के लिए आप्तमीमांसा एवं युक्तयनुशासन जैसे श्रेष्ठ ग्रंथों का सृजन किया गया। इन ग्रंथों के माध्यम से जैन न्याय ने जो ऊंचाई प्राप्त की वह आज तक भी धारावाहिक है। आप्तमीमांसा ग्रन्थ पर आगे आने वाले कई आचार्यों ने अपनी टीकाएं सृजित कीं उनमें आचार्य विद्यानंदीजी द्वारा अष्ट सहस्री, आचार्य अकलंक देव द्वारा अष्टशती एवं आचार्य वसुनंदी द्वारा आप्त मीमांसावृत्ति ग्रन्थ के नाम पर टीकाएं लिखीं गयीं। आचार्य सिद्धसेन द्वारा सन्मति तर्कसूत्र एवं न्यायावतार ग्रंथ सृजित किये गये। आचार्य अकलंक देव ने न्याय विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय प्रमाण संग्रह, लघीयस्त्रयी जैसे अद्वितीय ग्रंथों का अवदान जैन न्याय को दिया। आचार्य अनंतवीर्य ने वृहत्सर्वज्ञ सिद्धि, लघुसर्वज्ञ

सिद्धि, स्याद्वाद सिद्धि जैसे ग्रन्थों को सृजित करके जैन न्याय को गतिशील बनाया। आचार्य विद्यानंद जी ने आप्त परीक्षा, प्रमाण परीक्षा, सत्यशासन परीक्षा, पत्र परीक्षा आदि चारों ग्रंथों की रचना करके जैन न्याय की पताका को गगनचुम्बी बनाया। आचार्य माणिक्यनंदी जी ने परीक्षामुख जैसे एकल ग्रन्थ के माध्यम से जैन न्याय की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। प्रस्तुत ग्रंथ को आधार बनाकर आचार्य प्रभाचंदजी ने प्रमेयकमल मार्तण्ड आचार्य अनंतवीर्य ने प्रमेय रत्नमाला, चारुकीर्ति पण्डिताचार्य ने प्रमेय रत्नालंकार जैसे ग्रंथों का सृजन किया। आचार्य वादीभसिंह ने स्याद्वाद सिद्धि और नवपदार्थ विनिश्चय ग्रंथ की रचना की। आचार्य हरिभद्रजी ने अनेकांत जय पताका षडदर्शन समुच्चय शास्त्रवार्ता समुच्चय अनेकांतवाद प्रवेश जैसे बड़े-बड़े ग्रंथों को रचकर जैन न्याय को उच्च शिखर पर स्थापित किया। आचार्य शांतिवर्णी ने प्रमेय कण्ठिका, आचार्य रविन्द्र सेन ने प्रमाण प्रमेय कलिका, आचार्य विमलदास ने सप्तभंग तरंगणी, अभिनव धर्मभूषण ने न्याय दीपिका, अजितसेन ने न्यायमणि दीपिका, भावसेन त्रैविद ने विश्वतत्व प्रकाश, आचार्य नेमीचंद ने प्रवचन परीक्षा, आचार्य मणिकण्ठ ने न्यायरत्न, आचार्य शुभप्रकाश ने न्याय मकरन्द, विवेचन, आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वाद मंजरी एवं आचार्य यशोविजय ने अनेकांत व्यवस्था, ज्ञानबिन्दू और जैन तर्कभाषा अनेकांत प्रवेश, न्यायालोक गुरुतत्व विनिश्चय जैसे महान् ग्रंथों की रचना करके जैन न्याय परम्परा के उत्थान में महान सहयोग प्रदान किया। आचार्य वादीभसिंह द्वारा स्याद्वाद सिद्धि एवं प्रमाण निर्णय ग्रंथ का सृजन किया गया। आचार्य हेमचंद द्वारा प्रमाण मीमांसा ग्रंथ का सृजन न्याय परम्परा को गति देने में सार्थक सिद्ध हुआ।

#### ग्रन्थों में उल्लेखित न्याय ग्रन्थ :-

अनेक जैन ग्रन्थों में कई आचार्य एवं जैन न्यायग्रन्थों का मात्र उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु वह ग्रन्थ कहां लुप्त हो गये इस सन्दर्भ में आज तक कुछ नहीं कहा जा सकता है, उनमें सर्वप्रथम आचार्य श्रीदत्त का जल्प निर्णय, आचार्य पात्रकेसरी का त्रिलक्षण कदर्थन, आचार्य सुमिति का सन्मति तर्क टीका, सुमित

सप्तक एवं आचार्य कुमारनंदी का वाद न्याय जैसे महत्वपूर्ण अनुपलब्ध ग्रंथों का भी जैन न्याय को समृद्ध बनाने में योगदान उपलब्ध हुआ है।

**जैन न्याय के टीकाग्रन्थ :-**

6 वीं शताब्दी के बाद जैन न्याय ग्रन्थों की टीका होना प्रारम्भ हो गयी थी उनमें सर्वप्रथम आचार्य अकलंक देव ने आप्तमीमांसा पर अष्टशती और तत्त्वार्थ सूत्र पर तत्त्वार्थ राजवार्तिक जैसी महान टीकाओं की रचना की। आचार्य विद्यानंदीजी ने अष्टसहस्री और युक्तानु शासन अंलकार जैसे आचार्य समंतभद्र के ग्रन्थों पर विशालकाय टीका लिखकर भारतीय दर्शन को अनूठी देन प्रदान की। आचार्य प्रभाचंद ने परीक्षामुख ग्रंथ को आधार बनाकर प्रमेयकमल मार्तण्ड न्यायकुमुदचंद जैसे विशालकाय टीकाग्रन्थ की रचना की। आचार्य अनंतवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला, पं. आशाधरजी ने प्रमेयरत्नाकर, पं. चारूकीर्ति ने प्रमेयरत्नालंकार जैसे टीका ग्रंथों का सृजन किया। लघु समंतभद्र ने अष्टसहस्री पर टिप्पणी लिखकर न्याय को गतिशील बनाया। आचार्य वादीराज ने न्याय विनिश्चय विवरण टीका लिखकर आचार्य अकलंक देव के भावों को स्पष्ट करने का प्रयास किया। आचार्य अनंतवीर्य ने सिद्धि विनिश्चय टीका लिखकर आचार्य अकलंक देव के क्लिष्ट ग्रंथ को सहज सरल सुबोध करने का प्रयास किया। आचार्य अभयदेव सूरी ने सन्मति टीका और लघीयस्त्रयी तात्पर्यवृत्ति आचार्य अभयचंदसूरि ने लिखी। जीवसिद्धी टीका अनंतकीर्ति ने 10 वीं शताब्दी में सृजित की थी। न्यायावतार वृत्ति का सृजन सिंह ऋषि ने इसी शताब्दी में किया था। न्यायवतारवार्तिक शांतिसूरि ने 11 वीं शताब्दी में कर दिया था। प्रमाणनय-तत्वालोकालंकार की रचना 12 वीं शताब्दी में वादीदेवसूरि ने की थी।

इसी श्रुत की परम्परा में सारस्वत आचार्य एवं स्थिति पालक आचार्यों ने और परम्परापोषक आचार्यों के महान योगदान से अनेक न्यायग्रन्थों की रचना हुई, उनमें से जो कुछ उपलब्ध हुए उनकी जानकारी इस लेख के माध्यम से देने का प्रयास किया गया है फिर भी यदि कोई ग्रंथ छूट गये हैं तो उन्हें सुधि पाठक संकलित कर सकते हैं।



## भारतीय न्याय में प्रमाण का स्वरूप

वस्तुतत्त्व के निर्णय में साधक प्रमाण होता है, इसलिए दूसरे दर्शनों की तरह जैन दर्शन में भी प्रमाण को मान्यता दी गयी है लेकिन दूसरे दर्शनों में प्रमाण का स्वरूप कारक साकल्य आदि को प्रमाण माना गया है जबकि जैन दर्शन में सम्यक ज्ञान अर्थात् अपने और अपूर्व अर्थ के निर्णायक ज्ञान को प्रमाण माना गया है। प्रत्येक पदार्थों को जानने की क्रिया में जिस विधा का प्रयोग किया जाता है उस विधा को प्रमाण कहते हैं। इस प्रमाण के लक्षण को वैदिक, अवैदिक दोनों दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से निर्धारित करने का प्रयास किया है। इनमें वैशिष्टिक दर्शन ने प्रमाण का लक्षण निर्धारित करते हुए कहा है अदुष्ट विद्या प्रमाणम्। “वैशिष्टिक सूत्र 9-2-12”

इसका तात्पर्य यह है कि निर्दोष ज्ञान या विद्या को वैशिष्टिक दर्शन के आचार्य कणाद ने यह प्रमाण का लक्षण दार्शनिक परंपरा में सर्वप्रथम प्रदान किया। तदोपरांत न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम के न्याय सूत्र में प्रमाण का सामान्य लक्षण कही भी उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु उस ग्रन्थ के टीकाकार वात्स्यायन ने प्रमाण शब्द से फलित होने वाले उपलब्धि साधन या प्रमाण सामान्य का लक्षण सूचित किया है उपलब्धिमानानि प्रमाणानि समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोधव्यम्। (प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थभिधानो हि प्रमाण शब्दः।) उद्योतकर और जयंतभट्ट आदि न्यायिकों ने वात्स्यायन का अनुकरण करते हुए उपलब्धि साधनरूप प्रमाण का लक्षण मान्य किया है। यद्यपि न्याय कुसुमांजलि के रचयिता उद्दन ने यथार्थ अनुभव को प्रमाण कहा है तथापि उन्हें प्रमाकरण रूप ही इष्ट है पर इतना अवश्य है कि अनुभूति को प्रमाण मानने वाले प्रभाकर और उनके अनुयायि विद्वानों का उद्दन के पहले न्याय वैशिष्टिक की परंपरा में प्रमाण सामान्य लक्षण में अनुभव शब्द का भी प्रयोग नहीं हुआ था। इसके बाद ही न्यायायिकों ने अनुभव शब्द प्रमाण के

सामान्य लक्षण में जोड़ा गया है। (यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते।) मीमांसक परंपरा में दो संप्रदाय प्रमुख हैं 1-भाट्ट 2- प्रभाकर। कुमारिल भट्ट के अनुगामी भाट्ट और प्रभाकर गुरु के मत का अनुकरण करने वाले कहे जाते हैं। कुमारिल ने प्रमाण के पाँच विशेषण बताये हैं और यही पाँच लक्षण प्रमाण के सामान्य लक्षण के रूप में मीमांसकों को मान्य रहे हैं।

‘तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥

- 1- अपूर्वार्थ विषयत्व
- 2- निश्चितत्व
- 3- बाधावर्जितत्व
- 4-अदुष्टकारणारब्धत्व
- 5- लोकसम्मतत्व

इस तरीके से कुमारिल के द्वारा बनाया हुआ लक्षण का समर्थन उनके सभी अनुयायियों ने किया। प्रभाकर ने अनुभूति ज्ञान को प्रमाण कहा। अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्। (बृहति 1-1-5)

सांख्य दर्शन ने श्रोत आदि इन्द्रिय की वृत्ति या व्यापार को प्रमाण का लक्षण सामान्य तौर पर माना है। बौद्ध दर्शन ने अज्ञात अर्थ के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण का सामान्य रूप से लक्षण मान्य किया है। (अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्) प्रमाणमुच्चय टीका पृष्ठ 11 दिग्नाग ने विषयाकार अर्थ निश्चय और संवित्ति को प्रमाण का फल कहकर उन्हें भी प्रमाण माना है क्योंकि बौद्ध दर्शन की मान्यता अनुसार प्रमाण और प्रमाण का फल अलग-अलग नहीं होता है। जो अज्ञात अर्थ प्रकाश रूपी ही माना जाता है। धर्म कीर्ति ने इस परिभाषा को थोड़ा परिमार्जित करते हुए अविस्वादी शब्द को जोड़ कर प्रमाण के लक्षण को परिष्कृत करने की कोशिश की है। (प्रमाणमविस्वादि ज्ञानम्) प्रमाणवार्तिक 2-1 तत्त्वसंग्रह के रचयिता शांतिरक्षित ने प्रमाण के लक्षण को

बौद्ध दर्शन अनुसार और अधिक परिमार्जित करते हुए सारूप्य और योग्यता को प्रमाण लक्षण के साथ जोड़कर प्रमाण लक्षण में एक विशेष प्रकार का संशोधन प्रस्तुत किया है (विषयाधिगतिश्चचात्र प्रमाणफलभिष्यते)। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा) तत्त्वसंग्रह का 1344। इस तरह बौद्ध परंपरा में स्वसंवेदी अज्ञातार्थ ज्ञापक अविस्वादी ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। जैन परंपरा में अनेक आचार्यों ने प्रमाण के लक्षण सुनिश्चित करने का प्रयास किया है उनमें सर्वप्रथम आचार्य समंतभद्र देव ने विमलनाथ भगवान का स्तवन करते हुए स्वयंभु स्रोत के श्लोक 63 में स्वपरावभासकम् यथाप्रमाणं भुवि बुद्धि लक्षणं अर्थात् स्वपर प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण का सामान्य लक्षण कहा है। आचार्य सिद्धसेन जी ने न्याय अवतार ग्रंथ में स्वपराभासक ज्ञान बाधावर्जित इन तीन विशेषणों के आधार पर प्रमाण का सामान्य लक्षण निश्चित किया है। विज्ञान वादी बौद्धों ने भी ज्ञान को स्वरूपस्य स्वतो गतेः कहकर स्वसंवेदी प्रकट किया है परंतु तार्किक रूप प्रदान करके विशेष रूप से प्रमाण के स्वलक्षण में स्व शब्द का प्रयोग आचार्य समंतभद्र देव ने ही किया है। इनके पहले प्रमाण के लक्षण की कोई भी परिभाषा दृष्टिगोचर नहीं होती है। आचार्य समंतभद्र देव ने आप्तमीमांसा ग्रन्थ में प्रमाण का सामान्य लक्षण युगपद सर्वभाषीतत्त्व ज्ञान भी है कि प्रतीयते येन तत्त्वप्रमाण् अर्थात् जिसके द्वारा प्रमिति अर्थात् ज्ञान विशेष हो वह प्रमाण है। इस अर्थ को प्रायः सभी दर्शनिकों ने स्वीकार किया है किन्तु उस प्रमिति का साधन कौन है इस बिन्दु पर सब अलग-अलग हो गये। न्यायायिक और वैशेषिकों का कहना रहा है कि अर्थज्ञप्ति इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होती अर्थात् किसी भी विषय का ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से होता इसलिये सन्निकर्ष प्रमिति का कारण है, मीमांसक सामान्यतः इन्द्रिय को ज्ञान को प्रमिति का कारण मान लेने पर प्रमाण लक्षण में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, अतः समंतभद्र के उत्तरवर्ती आचार्य पूज्यपाद ने स्वपरावभासक ज्ञान को ही प्रमिति का कारण माना है क्योंकि प्रमाण का और प्रमिति का फल अज्ञान की निवृत्ति है पदार्थ इन्द्रिय के सन्निकर्ष से और इन्द्रिय के व्यापार से उस अज्ञान की निवृत्ति नहीं

होती है अतः अज्ञान विरोधी स्व और पर का अभास कराने वाला ज्ञान – ज्ञान ही होना चाहिए।

आचार्य अकलंक देव ने आत्मार्थ ग्राहक व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण का लक्षण निर्मित किया है। (व्यवसात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्) लघीयस्त्रयी कारिका 60 इसका तात्पर्य यह है कि समंतभद्र देव के द्वारा स्वपद की जगह आत्मा और परशब्द के स्थान पर अर्थशब्द का प्रयोग करते हुए अवभासक शब्द के स्थान पर व्यवसायात्मक पद निर्धारित किया गया है। अनाधिगत शब्द अनिश्चित या अनिर्णीत शब्द कहीं-कहीं देखा जाता है, कहीं ज्ञान के विशेषण के रूप में अविश्ववादी शब्द को भी रखा गया है। इस आधार पर आचार्य अकलंक देव के द्वारा अविश्ववादी अर्थ शब्द का प्रयोग कुमारिल और धर्मकीर्ति से पहले प्रमाण के लक्षणों में प्रयुक्त हो चुका था। आचार्य माणिक्य नंदी ने अकलंक देव के अनधिगत शब्द के स्थान पर अपूर्व अर्थ शब्द का प्रयोग किया है तथा आचार्य समंतभद्र देव के द्वारा दिया गया स्व शब्द भी प्रयुक्त किया है। इस तरह उन्होंने स्वपूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं। यह प्रमाण सामान्य लक्षण अपने ग्रन्थ परीक्षामुख में प्रकट किया है। यद्यपि आचार्य विद्यानंद ने सक्षेप में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा है इसके बाद उन्होंने स्वार्थ व्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान को सिद्ध किया है। अकलंक देव और माणिक्यनंदी की तरह स्पष्ट तौर पर अनधिगत या अपूर्व विशेष को उन्होंने ग्रहण नहीं किया है फिर भी सम्यग्ज्ञान को अनाधिगत अर्थ विषयक और अपूर्व अर्थ विषयक माना ही है जो उन्होंने अपूर्व अर्थ का खण्डन किया है वह कुमारिल के सर्वथा अपूर्वार्थ का खण्डन किया गया है। कथंचिद् अपूर्व अर्थता का स्पष्ट रूप से उन्होंने समर्थन किया है। सामान्य रूप से प्रमाण लक्षण में अपूर्व शब्द को न रखने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष रूप से अपूर्व अर्थग्रही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और अनुमान आदि प्रत्यक्ष से अग्रहित विशेषणों में प्रवृत्त होने से अपूर्व अर्थ ग्राहक सिद्ध होता है। यदि विद्यानंद आचार्य को स्मृति आधिक्य अपूर्व अर्थ विषयक इष्ट नहीं होते तो उनकी प्रामाणिकता में प्रयोजक अपूर्व अर्थता को वे कभी भी स्वीकार नहीं

करते। इससे स्पष्ट है कि आचार्य विद्यानंदी प्रमाण को अपूर्व अर्थग्रही मानते हैं। आचार्य समंतभद्र देव एवं अकलंक देव का सामान्य लक्षण उत्तरवर्ती जैन तार्किक विद्वानों के लिये आधार प्रदान करता है। आचार्य धर्मभूषण ने न्याय दीपिका में विद्यानंद द्वारा स्वीकृत सम्यग्ज्ञानत्व को प्रमाण के सामान्य लक्षण मानते हुए स्वीकार किया है। उसे अपनी परम्परा अनुसार सविकल्प अग्रहीत ग्रही एवं स्वार्थ व्यवसायात्मक स्वीकार किया है। धर्मकीर्ति, प्रभाकर भाट्ट और अग्रहित नैयायिकों के द्वारा प्रमाण के सामान्य लक्षणों की विशद् आलोचना की है।

इस प्रकार प्रमाण के लक्षण की दर्शन ग्रंथों में अथवा दार्शनिक परंपरा में जो धारा देखी गयी है उससे ऐसा लगता है कि भारतीय दर्शन परंपरा, में प्रायः सभी दर्शनों में प्रमाण का सामान्य लक्षण दोष पाये जाते हैं तो फिर देखना यह है कि प्रमाण का सामान्य लक्षण कौन सा उचित होगा। इस पर चर्चा करना अभी इष्ट रहेगा।



## भारतीय दर्शनों में उपलब्ध प्रमाण लक्षणों की समीक्षा

भारतीय दर्शनों में वैदिक, अवैदिक दर्शन ने प्रमाण के लक्षण सुनिश्चित किये हैं। उन लक्षणों की समीक्षा अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, सर्वप्रथम जैन दर्शन ने सम्यग्ज्ञान प्रमाण, लक्षण को सुनिश्चित किया है। इस प्रमाण के लक्षण पर अन्य दर्शनों के आक्षेप दो प्रकार से प्राप्त होते हैं 1— इस प्रमाण लक्षण में अतिव्याप्ति दोष बताते हुए कुछ आलोचकों का कहना रहा है कि हेतु और इन्द्रिय से ज्ञान होता है। अतः यह प्रमाण का लक्षण अतिव्याप्ति दोष को प्राप्त हो जाता है।

### जैन तर्क -

प्रमाण का कार्य अज्ञान दूर करना रहा है कि हेतु और इन्द्रिय आदि से उत्पन्न आदि ज्ञान अज्ञान को दूर करने में सक्षम नहीं होता है। और इन्द्रिय आदि ज्ञान का मुख्य आधार नहीं अपितु उपचार से ही ज्ञान का आधार है।

**विपक्ष के तर्क –**

सम्यज्ञान को प्रमाण मानने पर धारावाहिक ज्ञान भी ज्ञान कराता है अतः जैनो के प्रमाण लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है।

**जैन तर्क –**

धारावाहिक ज्ञान अज्ञान को दूर करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति पहले ज्ञान से ही हो जाती है तो फिर दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती है। कारण यह है कि यह घट है यह प्रथम ज्ञान होने पर बार-बार यह घट है जानना प्रमाण नहीं कहलायेगा और न ही इसे सम्यज्ञान माना जा सकेगा। और ऐसे धारावाहिक ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। अतः सम्यज्ञान प्रमाण इस प्रमाण के लक्षण से किसी भी प्रकार का दूषण नहीं आता है। निष्कर्ष तौर पर हम यह कह सकते हैं कि इन्द्रिय ज्ञान लिंग हेतु ज्ञान, शब्द ज्ञान, और धारावाहिक ज्ञान के साथ सम्यज्ञान प्रमाण पर अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है क्योंकि यह तीनों ही अज्ञान की निवृत्ति करने में कारण नहीं बन पाते हैं।

निर्विकल्प दर्शन के साथ भी सम्यज्ञान प्रमाण का अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है। क्योंकि निर्विकल्पक दर्शन निराकार होता है, और ज्ञान साकार उपयोग होता है। अतः दर्शन के माध्यम से संदेह विपरीतता, और अनिश्चितता, का नाश नहीं हो सकता है और न ही इससे सम्यज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि व सम्यज्ञान प्रमाण यह प्रमाण का लक्षण अबाधित रूप से सिद्ध होता है।

**बौद्ध दर्शन में उपलब्ध प्रमाण लक्षण का मूल्यांकन –**

बौद्ध दर्शन में सर्वप्रथम अविंसवादी ज्ञान को प्रमाण का लक्षण कहा है। किन्तु दिग्गनाग और शांतिरक्षित ने इस प्रमाण के लक्षण को आगे बढ़ाया है किन्तु अविंसवादी प्रमाण का लक्षण सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि बौद्ध दर्शन में दो प्रमाण मान्य होते हैं एक प्रत्यक्ष प्रमाण और दूसरा अनुमान प्रमाण। प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान प्रमाण दोनों अपने-अपने विषय में प्रत्यक्ष स्वलक्षण को

ग्रहण करता है और एक क्षण स्थायी विषय होने से प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं कर पाता है तथा प्रत्यक्ष निर्विकल्प रूप होने से संशय आदि दोषों का नाश करने में समर्थ नहीं होता है और अनुमान प्रमाण भी अविंसवादी नहीं हो सकता है क्योंकि अनुमान अवास्तिक सामान्य को विषय करने वाला होता है। प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त कर देते हैं प्राप्ति योग्य अर्थ को दिखा देने से और अविचलित अर्थ को विषय करने से बौद्धों के अविंसवादी प्रमाण का लक्षण खण्डित हो जाता है। उपरोक्त तीन विकल्पों में तीनों विकल्प सिद्ध नहीं हो पाते हैं, पहले विकल्प में जल बुद-बुद के समान पदार्थ से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अप्रमाणता आ जाती है। और वह प्रदर्शित अर्थ की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं होता है। दूसरे विकल्प में प्राप्ति के अयोग्य देश में स्थित ग्रह नक्षत्र आदि को विषय करने वाले ज्ञान को अप्रमाणता का प्रसंग, आ जाता है क्योंकि यह चीजें ऐसी जगह में ठहरी हैं जहां हम प्राप्त नहीं कर सकते हैं किन्तु उनका ज्ञान अवश्य कर सकते हैं इसलिये प्राप्ति योग्य वस्तु को ही प्रमाण मानना असिद्ध हो जाता है। तीसरा अविचलित अर्थात् अबाधित पदार्थ को विषय करने से प्रमाण होता है तो यह मान्यता भी ज्ञानांतर से उसके विषय का निराकरण नहीं होता है और ज्ञानांतर से उसके बाधा नहीं आती है अतः स्वपर प्रकाशी बाधा रहित किसी दूसरी वस्तु के ज्ञान का निराकरण अथवा बाधा होने से ज्ञानांतर द्वारा भी अविंसवादक रूप नहीं होता है इसलिए अविंसवादी ज्ञान को प्रमाण मानना बौद्धों का सिद्ध नहीं हो पाता है।

**मीमांसक दर्शन द्वारा मान्य प्रमाण लक्षण का मूल्यांकन—**

अनाधिगतार्थ अधिगन्तु प्रमाण। नहीं पाये जाने गये पदार्थ का जानना प्रमाण है। इसका क्या अर्थ है, ज्ञानांतर से नहीं जाने गये अर्थ को जो जानता है वह प्रमाण है इसका यह अर्थ है यदि ऐसा कहते हो तो वह ज्ञानांतर परकीय होगा या स्वकीय। यदि परकीय मानते हैं तो सर्वज्ञ का ज्ञान अपने से पर सभी पदार्थों को जानता है, तो साधारण लोगों के ज्ञान के समान अप्रमाण रूप हो जायेगा। सर्वज्ञ के अतिरिक्त और कोई दूसरा मनुष्य उस पदार्थ को जानता है या उसने



भूतकाल में जाना है जिसको हम जाने हुए विषय को नहीं जानते हैं वे स्वयं अपने द्वारा ही संपूर्ण विषय को जानते हैं। स्वयं अपने द्वारा ही सम्पूर्ण विषय को जानते हैं। स्वकीय विषय के अर्थ आठ विकल्प होते हैं।

क्रं.	विषय	खण्डन के लिये दिये गये तर्क
1.	द्रव्य है	द्रव्य के नित्य और एक होने से उसका अनाधिगत अंश कोई बांकी नहीं रहता है।
2.	पर्याय है	पर्याय तो एक क्षणवर्ती होती है, वह पहले के संवेदन में ही व्यस्त हो जायेगी तो दूसरे संवेदन उत्पन्न न होने तक के काल की प्रतिक्षा नहीं की जा सकती है। अतः अनधिगत पदार्थ का विशेषण व्यर्थ हो जायेगा।
3.	द्रव्य विशिष्ट पर्याय है	इसमें दो विकल्प हैं एक तो द्रव्य विशिष्ट पर्याय समकाल भावी है तो न जानी हुई होकर के जाने जाती है और यदि कालांतरभावी है तो वह ज्ञान से न जानी हुई होकर जानी जाती है।
4.	पर्याय विशिष्ट द्रव्य है	इसमें दो विकल्प हैं एक द्रव्य विशिष्ट पर्याय समकाल भावी है तो न जानी हुई होकर के जाने जाती है और यदि कालांतरभावी है तो वह ज्ञान से न जानी हुई होकर जानी जाती है।
5.	सामान्य है	सामान्य सम्पूर्ण ये ग्रहण हो जाने के कारण आगे के सामान्य ज्ञानों को अधिगत अर्थ का विषय होने से अप्रमाण का प्रसंग आ जायेगा।
6.	विशेष है	विशेष नित्य और अनित्य रूप होते हैं, नित्य रूप होना मानने पर द्रव्य समान दोष आ जाता है और अनित्य मानने पर पर्याय के समान दूषण आ जाता है।

7. सामान्य विशिष्ट विशेष है तादात्म्य (अभिन्नता) और सन्निधी (निकटता) जैसे सामान्य का ग्रहण होता है वैसे ही तादात्म्य ग्रहण हो जायेगा, और यदि ग्रहण नहीं होगा तो तादात्म्य नष्ट हो जायेगा। और इसके अप्रमाणता का प्रसंग आ जायेगा। सन्निधी पक्ष में दोनों अलग-अलग होने से दूषण आ जायेगा।
8. विशेष विशिष्ट सामान्य है सातवे के दोष से उलटे दोष इस पक्ष में आयेंगे।

इस तरह से अनधिगत अर्थ का जानना प्रमाण का लक्षण किसी प्रकार से सिद्ध नहीं होता है।

#### नैयायिक के द्वारा दिये हुए प्रमाण लक्षण का मूल्यांकन –

अर्थोपलब्धि हेतु: प्रमाण अर्थ की उपलब्धि जिससे हो वह प्रमाण है, यह प्रमाण का लक्षण भी ठीक सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि शरीर आदि भी अर्थ उपलब्धि का कारण होने से उन शरीर आदि के भी प्रमाणता का प्रसंग आ जाता है, साक्षात् जो अर्थ के उपलम्भ का कारण है वह प्रमाण हो शरीरादिक नहीं क्योंकि यह तो परंपरा से ज्ञान कारण है साक्षात् नहीं इसलिये सन्निकर्ष आदिक और कारक साकल्य प्रमाण के लक्षण नहीं बन सकते हैं।

इस तरह से जैन दर्शन द्वारा दिया हुआ सम्यग्ज्ञान प्रमाण का लक्षण समीचीन रूप से सिद्ध होता है।



#### प्रमाण के भेद और भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शनों में प्रमाण के भेद को लेकर अनेक प्रकार के मतभेद है, सभी दर्शन अपनी-अपनी मान्यता अनुसार प्रमाण के भेद बताते हैं, उनमें चावार्क दर्शन मात्र एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है किन्तु बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान



दो प्रमाणों के बारे में अपने विचार सुनिश्चित करता है। वैशेषिक दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम) इस तरह तीन प्रमाण मानता है। सांख्य दर्शन के आगे नैयायिक दर्शन जो कि भारतीय दर्शन का काफी प्राचीन दर्शन है, वह भी प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द/आगम और उपमान चार प्रमाणों को अपने विचार से सुनिश्चित करता है। मीमांसक दर्शन छह प्रमाण स्वीकार करता है, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द/आगम, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणों को प्रस्तुत करता है।

जैन दर्शन में प्रमाण के दो भेद जैन आचार्यों ने सुनिश्चित किये हैं। एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष। पहले जैसे बताया गया प्रमाण कि चर्चा दार्शनिक युग की देन है, इसी से कुंदकुंद आचार्य ने प्रवचनसार में ज्ञेय और ज्ञान की चर्चा होने पर भी प्रमाण प्रमेय शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इसलिये कुंदकुंद आचार्य ने ज्ञान के दो भेद न बताते हुए प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के दो भेद बताये गये हैं। यही से जैन दर्शन में प्रमाण की चर्चा प्रारंभ होती है। दार्शनिक युग के प्रभाव से पहले जैन सिद्धान्त में ज्ञान के पांच भेद स्पष्ट किये गये हैं मति और श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान। इस तरह से जैन परंपरा में ज्ञान की चर्चा उपलब्ध होती है, तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ में यही ज्ञान की चर्चा प्रमाण के रूप में बतायी गयी है। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदों में इन पांच ज्ञानों का विभाजन होता है। मति और श्रुत ज्ञान को परोक्ष प्रमाण माना गया है एवं शेष अवधि मनःपर्यय केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है। तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय में 9 से 12 सूत्र तक इस विषय का वर्णन उपलब्ध होता है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क, अनुमान, प्रमाणों का अंतर्भाव मतिज्ञान में करके जैन क्षेत्र में दार्शनिक प्रमाण पद्धति को स्थान दिया गया है। इस प्रकार तत्कालीन प्रमाण के भेदों की व्यवस्था इस प्रकार की गयी थी। उस समय भारतवर्ष में दार्शनिक विचारधारार्यें बहुत उन्नत थीं। दार्शनिक क्षितिज पर एक के बाद एक नये-नये सितारे उदित हो रहे थे और वे अपनी प्रभा से दर्शन शास्त्र का विकास करके अस्त हो जाते थे।

समंतभद्र, सिद्धसेन, वसुबंधु, दिग्नाग, धर्मकीर्ती, शबर, कुमारिल, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद आदि दार्शनिकों ने भारत भूमि को अपने जन्म से पवित्र किया। उनके पारस्परिक दार्शनिक संघर्ष के बाद सभी दर्शनों का विकास हुआ और नई-नई समस्याओं का सुलझाने को प्रयास हुआ। जैन परंपरा में तत्त्वार्थ सूत्र के रचियता आचार्य उमास्वामी ने तार्किक परंपरा को मति ज्ञान में अंतर्भूत करते हुए अपने उत्तराधिकारियों का मार्गदर्शन किया। किन्तु उससे प्रमाण पद्धति की कोई भी समस्या उलझी नहीं है। सबसे कठिन समस्या यह थी इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष मानना किसी भी दार्शनिक ने परोक्ष नहीं माना किन्तु सब उसे प्रत्यक्ष ही मानते रहे। दूसरी समस्या परोक्ष ज्ञान के भेदों को लेकर रही। जैन तार्किक विद्वानों के सामने दूसरे प्रतिवादियों की ओर से यह प्रश्न उत्पन्न किया जाता रहा कि जैन अगर अनुमान आदि दर्शनांतर में प्रसिद्ध प्रमाणों को परोक्ष मानते हैं तो उन्हें स्पष्ट करना चाहिए कि परोक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं, और उनके सुनिश्चित लक्षण क्या हो सकते हैं? इस समस्या का समाधान आचार्य अकलंक देव ने बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया। उन्होंने अपनी प्रमाण पद्धति का आधार वही रखा जो तत्त्वार्थ सूत्र के तत्प्रमाणे सूत्र को आदर्श बनाया और उन्होंने भी प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के दो भेद ही स्वीकार किये। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के सांख्यवहारिक और मुख्य प्रत्यक्ष इन दो भेदों को स्पष्ट करते हुए कहा कि इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि से निकालकर तथा सांख्यवहारिक और मुख्य प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर दिया इससे न तो प्राचीन जैन परंपरा को क्षति पहुंची और न ही विपक्षी दार्शनिकों को भी आक्षेप करने का अवसर मिला। प्राचीन जैन परंपरा इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहती थी और उसे प्रत्यक्ष कहते थे। किन्तु जो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष नाम देने से न तो जैन परंपरा को आघात पहुंचा और न ही विपक्षी दार्शनिकों को कुछ भी कहने का मौका मिला, क्योंकि नाम के कारण ही विवाद था। और प्रत्यक्ष नाम देने से यह विवाद सदैव के लिये समाप्त हो गया।

अब प्रश्न स्मृति आदि प्रमाणों का अभी भी शेष था। इस प्रश्न को अकलंक देव ने सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष में अंतर्भूत किया और परोक्ष श्रुत ज्ञान में भी अंतर्भूत किया। जब तक इनमें शब्द का संसर्ग न हो तब तक इन्हें सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष माना जाना चाहिये। इसके लिए उन्हें सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद करना उचित लगा।

एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष और दूसरा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में तो मतिज्ञान को स्थान मिला और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष में स्मृति आदि को। क्योंकि इनमें मन का ही व्यापार प्रधान होता है। परन्तु यह स्मृति आदि शब्द का संसर्ग को लिये हुए हों तो इनका अंतर्भाव परोक्ष श्रुत ज्ञान में ही हो जाता है। अकलंक देव ने जो स्मृति आदि प्रमाणों को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष बतलाया उसके मुल में उनकी केवल एक ही दृष्टि थी और वह थी सूत्रकार का उन्हें मति से अनर्थान्तर बतलाना अनिवार्य था। अतः जब मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष माना गया तो उसके सहयोगी स्मृति आदि को प्रत्यक्ष के ही अंतर्गत लेना चाहिए। अकलंक देव के ग्रंथों की प्रमुख टीका का अनंतवीर्य और आचार्य विद्यानंद ने अपनी प्रमाण परीक्षा कृति में अकलंक देव के मतानुसार प्रत्यक्ष के इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतिन्द्रिय प्रत्यक्ष भेद तो किये किन्तु अवग्रह ईहा, अवाय, धारणा, को एकदेश प्रत्यक्ष होने से इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माना तथा स्मृति आदि को परोक्ष ही माना। उत्तरकालीन जैन न्याय के विद्वानों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को तो एकमत से सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया किन्तु स्मृति आदि को किसी ने भी अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माना तथा स्मृति आदि को परोक्ष ही माना। उत्तरकालीन जैन न्याय के विद्वानों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को तो एकमत से सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया किन्तु स्मृति आदि को किसी ने भी अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना। और अकलंक देव ने तत्त्वार्थ सूत्रकार के मत की रक्षा करने के लिए जो प्रयास किया था वह सफल नहीं हो सका। किन्तु उनकी शुद्ध तार्किक प्रमाण पद्धति को एक स्वर से सभी विद्वानों ने स्वीकार किया।

इस तरह अकलंक देव के पश्चात् दोनों जैन सम्प्रदाय के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आचार्यों ने अपनी-अपनी न्याय विषयक रचनाओं में कुछ भी फेरबदल किये बिना एक ही पद्धति से अकलंक देव के द्वारा किये गये ज्ञान के वर्गीकरण को स्वीकार किया। सभी ने प्रत्यक्ष के मुख्य और सांख्यवहारिक दो भेद माने। मुख्य प्रत्यक्ष के तीन अवधि ज्ञान, मनः पर्यय, केवलज्ञान तथा सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के मतिज्ञान को स्वीकार किया तथा परोक्ष के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क, अनुमान और आगम यह पांच भेद करके उक्त प्रत्यक्ष के सिवाय और सभी प्रकार के ज्ञानों को परोक्ष के पांच भदों में से किसी न किसी भेद के अंतर्गत स्वीकार किया। इस प्रकार जैन दर्शन ने मूल रूप से प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के दो भेद स्वीकार किये गये हैं।



### भारतीय दर्शन में उल्लेखित प्रमाण भेदों की समीक्षा

प्रमाण के भेदों को लेकर चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाणवाद को प्रस्तुत किया। उनके मतानुसार एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण ही सत्य तक पहुंचा सकता है क्योंकि प्रमाण अज्ञान की निवृत्ति करने के लिए सहायक होता है और अर्थ का निश्चय करने वाला होता है। अनुमान से अर्थ का निश्चय नहीं होता है। व्याप्ति ग्रहण होने से अनुमान की प्रवृत्ति होती है। और व्याप्ति ग्रहण प्रत्यक्ष से तो संभव नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष तो निकटवर्ती पदार्थ को ही ग्रहण करता है, अतः वह समस्त पदार्थों को लेकर व्याप्तिग्रहण करने में समर्थ नहीं होता है। अनुमान से भी व्याप्ति का ग्रहण संभव नहीं है क्योंकि अनुमान व्याप्ति के ग्रहणपूर्वक ही होता है। अनुमान से व्याप्तिग्रहण मानने पर अनवस्था का दोष आ जाता है। अन्य कोई प्रमाण व्याप्ति को ग्रहण नहीं करता है। अतः अनुमान प्रमाण किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता है। इसी आधार पर चार्वाक मत प्रत्यक्ष प्रमाण मात्र मानता है।

**समीक्षा -** चार्वाक मत का यह कथन विचारपूर्ण नहीं माना जा सकता है

क्योंकि प्रत्यक्ष के समान अनुमान प्रमाण भी अविश्ववाद रूप होता है। अतः वह अनुमान भी प्रमाण की कोटि में आयेगा। अनुमान के द्वारा जाने हुए पदार्थ में विसंवाद का अभाव होता है। चार्वाक मत अनुमान को गौण क्यों मानते हैं क्या उसका विषय गौण है इसीलिये या फिर प्रत्यक्षपूर्वक होने से वह गौण है यदि विषय गौण होने से अनुमान को गौण माना जायेगा तो यह उनका पक्ष ठीक नहीं होगा। क्योंकि प्रत्यक्ष की तरह अनुमान का विषय भी वास्तविक होता है। उसमें सामान्य विशेषात्मक वस्तु तत्व निहित होती है। बौद्धमत की तरह सामान्य कल्पित नहीं होता है जिस कारण से अनुमान को प्रमाण से बाहर रखा जा सके। यदि प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान होने से गौण कहा जायेगा तो कोई प्रत्यक्ष भी अनुमान पूर्वक होता है। अतः ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमाण को भी गौण मानना पड़ेगा क्योंकि दूर से अनुमान से अग्नि को जानकर मनुष्य जब अग्नि के पास जाता है तो प्रत्यक्ष से अग्नि को जानता है व्याप्ति का ग्रहण तर्क प्रमाण कहलाता है। तर्क को प्रमाण माने बिना तो आप भी यह नहीं कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। क्योंकि वह गौण नहीं है। दूसरा बिन्दू यह भी है कि अनुमान प्रमाण के बिना चार्वाक दर्शन वाले अतिन्द्रिय, परलोक, आत्मा और स्वर्ग का अभाव भी सिद्ध नहीं कर पायेंगे। प्रमाण पने और अप्रमाण पने की व्यवस्था से दूसरे की बुद्धि जानने से और परलोक आदि का निषेध करने से प्रत्यक्ष भिन्न प्रमाणान्तर का अस्तित्व स्वतः सिद्ध होता है। इस तरह चार्वाक का प्रत्यक्ष प्रमाणवाद कहीं से कहीं तक सिद्ध नहीं होता है।

### बौद्ध मत अनुसार प्रमाण के भेदों की समीक्षा-

बौद्ध दो ही प्रमाण मानते हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। उनका कहना है कि प्रमेय दो प्रकार के होते हैं इसलिये प्रमाण भी दो प्रकार के होंगे। एक स्वलक्षण प्रमेय और दूसरा सामान्य प्रमेय। उनके मतानुसार सामान्य को अनुमान ग्रहण करता है और स्वलक्षण को प्रत्यक्ष प्रमाण ग्रहण करता है। जैन दर्शन पदार्थ को सामान्य विशेषात्मक मानता है इसीलिये स्वलक्षण और सामान्य अलग-अलग नहीं हो सकते हैं। यदि अनुमान का विषय सामान्य मात्र माना जायेगा तो उससे

स्वलक्षण रूप पदार्थों की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि अन्य विषयक ज्ञान अन्य में प्रवृत्ति नहीं कर सकता है यदि ऐसा होगा तो घट विषयक ज्ञान पट में प्रवृत्ति करा देगा, यदि कहा जायेगा कि लिंग के द्वारा अनुमति सामान्य से विशेष का बोध होता है और उससे उसमें प्रवृत्ति होती है तो लिंग से ही विशेष का बोध क्यों नहीं हो सकता है। शायद कहा जाये कि लिंग के अविनाभाव संबंध की प्रतिपत्ति सामान्य के साथ होती है विशेष के साथ नहीं होती है जैसे धुएं का अविनाभाव संबंध अग्नि सामान्य के साथ होता है तो यह बात सामान्य में भी सामान्य है। क्योंकि सामान्य के प्रतिबंध की प्रतिपत्ति विशेषों के साथ नहीं है तब सामान्य से विशेष का बोध कैसे हो सकता है और यदि प्रतिबंध का बोध न होने पर भी सामान्य से विशेषों का बोध हो सकता है तो विशेषों के साथ हेतु का अविनाभाव संबंध ज्ञान होने पर भी हेतु से विशेष का बोध क्यों नहीं मान लेते। इस तर्क के सामने बौद्धों का कहना है कि प्रमेय भेद न भी रहे किन्तु फिर भी आगम आदि प्रमाण अनुमान से भिन्न नहीं हैं। कारण कि शब्द आदि से संबद्ध परोक्ष अर्थ का बोध होता है या असंबद्ध का। असंबद्ध पदार्थ का बोध तो नहीं हो सकता है यदि ऐसा हो तो गाय शब्द से घोड़े शब्द का बोध हो जायेगा। यदि संबद्ध अर्थ का ही बोध हो जायेगा तो वह शब्द हेतु रूपी हुआ और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान अनुमान ही तो कहलायेगा।

इस बौद्ध मत के तर्क पर जैन विद्वानों का तर्क है कि इस प्रकार की रीति से तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी अनुमान प्रमाण सिद्ध होगा। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण भी अपने विषय से संबद्ध होकर ज्ञान कराता है। यदि ऐसा नहीं है तो सभी प्रमाता सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेंगे। यदि कहा जायेगा कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही अपने-अपने विषय से संबद्ध है। फिर भी दोनों भिन्न सामग्री से उत्पन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न हैं तो इसी प्रकार आगम आदि प्रमाणों को भी अनुमान से भिन्न क्यों नहीं माना जायेगा। क्योंकि आगम प्रमाण शब्द सामग्री से उत्पन्न होता है। न तो वह आगम प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है क्योंकि सविकल्प और अस्पष्ट होता है और न ही अनुमान प्रमाण रूप है क्योंकि उसकी उत्पत्ति तीन रूप

लिंग से नहीं होती है जहां धुआं होता है वहाँ आग अवश्य होती है ऐसा धुआं और अग्नि का अविनाभाव संबंध होने से ज्ञात धुएं से अग्नि को जान लेते हैं वैसे शब्द का अर्थ के साथ अन्वय नहीं है कि जहां शब्द हो वहां अर्थ अवश्य ही हो जैसे रसगुल्ला शब्द सुना जाता है वहां रसगुल्ला नामक पदार्थ भी हो ऐसा कोई नियम नहीं है और शब्द के समय पदार्थ नहीं होता है। रावण शब्द बोलने पर वहां रावण नहीं होता है इसलिए शब्द का अर्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है। अतः अनुमान के सिवाय आगम प्रमाण अलग ही होगा। इस तरह बुद्ध के द्वारा मान्य प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के सिवाय आगम प्रमाण की सिद्धि हो जाती है।

नैयायिक और मीमांसक दर्शन उपमान नाम से एक प्रमाण को मानते हैं, दोनों की शैली में एक अंतर है, उनका निरूपण तथा जैनों के सदृश्य प्रत्यभिज्ञान में अंतर्भाव हो जाता है। मीमांसक दर्शन अनुमान आगम उपमान, के अतिरिक्त अभाव और अर्थापत्ति छह प्रमाणों को मानता है इन सभी प्रमाणों का अंतर्भाव परोक्ष प्रमाणों में हो जाता है। अर्थापत्ति प्रमाण एक ऐसा प्रमाण है कि जो देखा गया हो, पदार्थ जिसके बिना नहीं हो सकता उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं किन्तु यह अर्थापत्ति अनुमान पूर्वक उपमान पूर्वक और अभाव पूर्वक होती है। इसलिये इस अर्थापत्ति प्रमाण का अंतर्भाव अनुमान प्रमाण में हो जाता है और अभाव प्रमाण का अंतर्भाव प्रत्यक्ष आदि में हो जाता है। इस तरह से इन प्रमाणों की स्थिति प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण रूप ही सिद्ध हो जाती है। जैनों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाणों को माना है। उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद किये हैं एक सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष और दूसरा पारमार्थिक प्रत्यक्ष। सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष और मतिज्ञान, दोनों में समानता हो जाती है और परोक्ष प्रमाण के मतिज्ञान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान के अंतर्गत जब श्रुतज्ञान का प्रारम्भ हो जाता है तो आगम प्रमाण भी मान्य हो जाता है। भारतीय दर्शनों में सांख्य, न्याय, मीमांसक, अद्वैत वेदांत आदि दर्शनों ने आगम प्रमाण को

स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। इस प्रकार विस्तार से चर्चा न करते हुए संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण ही सम्यक् रूप से और वस्तुनिष्ठ रूप से सिद्ध होते हैं। उपमान, अर्थापत्ति, अभाव इन तीनों प्रमाणों का अंतर्भाव हो जाने के कारण दो प्रमाण ही मान लेना उचित होता है।



## सन्निकर्षवाद की समीक्षा

सन्निकर्षवाद नैयायिक दर्शन का प्रमाण लक्षण करने का साधन है।

सन्निकर्षवादी दार्शनिकों के तर्क :-

1. घट का ज्ञान कराने में सबसे अधिक साधक सन्निकर्ष होता है। यह सब जानते हैं कि चक्षु का घट के साथ संयोग होने पर ही उसका ज्ञान होता है और जिस अर्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है उसका ज्ञान नहीं होता है। यदि इन्द्रियों से सन्निकर्ष नहीं होने पर अर्थ का ज्ञान माना जाये तो सबको सब पदार्थों का ज्ञान हो जायेगा। किन्तु बहुत सारे पदार्थ दृष्टि से ओझल होते हैं और उनका ज्ञान नहीं होता है।

2. इन्द्रिय कारक है और कारक से दूर रहकर अपना काम नहीं हो सकता है, अतः इन्द्रिय जिस पदार्थ से संबंध नहीं करती है उसे नहीं जानती क्योंकि वह कारक है जैसे बढई का वसूला लकड़ी से दूर रहकर अपना काम नहीं कर सकता। स्पर्शन इन्द्रिय पदार्थ को छूकर ही जानती है बिना छूए नहीं जानती। यही बात सब इन्द्रियों के विषय में भी समझ लेना।

3. सन्निकर्ष छह प्रकार के होते हैं :-

1. **संयोग** - चक्षु का घट आदि पदार्थों के साथ संयोग है।

2. **संयुक्त समवाय** - घट आदि में समवाय संबंध रहने पर गुण कर्म आदि पदार्थ के साथ संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है। संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है।

3. संयुक्त समवेत समवाय - घट में समवाय संबंध से रहने वाले गुण कर्म आदि में समवाय संबंध से रहने वाले गुणत्व, कर्मत्व के साथ संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है।

4. समवाय - श्रोत का शब्द के साथ समवाय सन्निकर्ष है।

5. समवेत समवाय - शब्दत्व के साथ समवेत समवाय होता है।

6. विशेषण विशेष भाव - इस घर में घट का अभाव है, यहां घट अभाव के साथ विशेषण विशेष भाव सन्निकर्ष है।

4. प्रत्यक्ष ज्ञान चार, तीन, दो सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, और बाह्य रूप आदि का प्रत्यक्ष चार सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। आत्मा मन से संबंध करता है, मन इन्द्रिय से, और इन्द्रिय अर्थ से और शब्द आदि का प्रत्यक्ष तीन के सन्निकर्ष से होता है। क्योंकि उसमें चक्षु आदि इन्द्रियां काम नहीं करतीं। योगियों को जो सुखकर आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, वह केवल आत्मा और मन से सन्निकर्ष होता है।

**निष्कर्ष :-** नैयायिक दर्शन वाले इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि सन्निकर्ष को ही प्रमाण मानना चाहिये।

**जैनाचार्यों के तर्क -**

इस सन्निकर्षवाद को जैन दर्शन किसी भी प्रकार से स्वीकार नहीं करता है, जैन दर्शन न्याय दर्शन के विपक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहता है -

1) वस्तु का ज्ञान कराने में सन्निकर्ष साधकतम नहीं हैं। इसलिये वह सन्निकर्ष प्रमाण नहीं हो सकता है। जिसके होने पर ज्ञान हो और नहीं होने पर ज्ञान न हो वह साधकतम कहलाता है। किन्तु सन्निकर्ष में यह स्थिति नहीं है। कभी-कभी सन्निकर्ष के होने पर भी ज्ञान नहीं होता है। जैसे घर में रखे हुए पदार्थों को संयोग होने पर भी उनका ज्ञान नहीं होता है। इसीलिये यह सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।

2) सन्निकर्ष की योग्यता साधकतम नहीं हो सकती है। क्योंकि सहकारियों की निकटता को ही शक्ति बतलाया है। सन्निकर्ष आत्मा का सहकारी कारण नहीं हो सकता है क्योंकि आकाश और चक्षु के सन्निकर्ष के समय आत्मा मौजूद होने

पर भी ज्ञान नहीं होता है। इसी तरह काल दिशा आदि भी सन्निकर्ष के सहकारी कारण नहीं हो सकते हैं क्योंकि आकाश और चक्षु के सन्निकर्ष के समय वह भी मौजूद रहते हैं और आकाश का ज्ञान नहीं होता है।

3) मन भी सन्निकर्ष का सहकारी कारण नहीं हो सकता है क्योंकि चक्षु और आकाश के सन्निकर्ष के समय पुरुष का मन उस ओर हो तभी भी आकाश का ज्ञान नहीं होता है।

4) आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ इन चारों का सन्निकर्ष अर्थज्ञान कराने में साधकतम है, क्योंकि यह सब सामग्री आकाश के साथ सन्निकर्ष के समय मौजूद रहती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इन सब के रहते हुए भी आकाश का ज्ञान नहीं होता है।

5) कर्म को सन्निकर्ष का सहकारी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसके मानने पर भी वही दोष आते हैं, सहकारी कारणों की सहायता रूप शक्ति अर्थ का ज्ञान कराने में साधक नहीं है किन्तु ज्ञाता की अर्थ को ग्रहण कर सकने की शक्ति की योग्यता ही वस्तु का ज्ञान कराने में साधकतम है।

6) स्व और अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति का नाम योग्यता है, वह योग्यता स्व और अर्थ का जानने वाले ज्ञान रूप प्रमाण की सामग्री होने से प्रमाण की उत्पत्ति में ही साधकतम है। अर्थात् यह योग्यता प्रमाण नहीं है। यह प्रमाण को उत्पन्न करती है।

7) प्रमाण तो ज्ञान ही है किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति तभी होती है जब ज्ञाता में उस अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति होती है। अतः शक्ति रूपी योग्यता ज्ञान उत्पत्ति में साधकतम है। और ज्ञान स्व और अर्थ की परिच्छिन्ति कराने में साधकतम है।

**निष्कर्ष -** जैन दर्शन के तर्क पर विचार करने के उपरांत यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष साधकतम न होने के कारण प्रमाण का लक्षण नहीं हो सकता है।





## कारक साकल्यवाद की समीक्षा

भारतीय दर्शनों में न्याय दर्शन की एक मान्यता और सामने आती है, जो साधकतम होता है उसे करण कहते हैं। और अर्थ का व्यभिचार रहित ज्ञान कराने में जो करण है उसे प्रमाण कहते हैं। पदार्थ का निर्दोष ज्ञान किसी एक कारक से नहीं होता है अपितु कारकों के समूह से होता है ऐसा देखा जाता है एक दो कारकों के होने पर भी ज्ञान नहीं होता है किन्तु समग्र कारकों के होने पर नियम से ज्ञान होता है। इसीलिये कारक साकल्य ही ज्ञान उत्पत्ति में कारण है और कारक साकल्य को प्रमाण का लक्षण माना जाना चाहिये।

इस न्याय दर्शन की मूल अवधारणा को आधार प्रदान करने के लिए न्याय दर्शन के साहित्य में कई तर्क दिये गये हैं उनमें से कुछ तर्कों को यहां पर प्रस्तुत किया जा रहा है जो निम्न:-

1 - कारक साकल्य ही ज्ञान उत्पत्ति का साधन है। वही प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो फल है, और प्रमाण के फल को प्रमाण मानना उचित नहीं है कारण कि प्रमाण का फल भिन्न-भिन्न है।

2 - ज्ञान को यदि प्रमाण माना जायेगा तो लोगों ने जो अज्ञान रूप शब्द लिंग आदि को प्रमाण माना है वह अप्रमाण हो जायेंगे। ज्ञान भी पदार्थ का ज्ञान कराने में कारण है जैसे विशेष के प्रत्यक्ष में विशेषण ज्ञान, अग्नि के जानने में धुंए का ज्ञान।

3 - अर्थ के जानने में शब्द ज्ञान की आवश्यकता होती है, अतः सकल कारकों में ज्ञान भी लिया गया है, इसलिये वह भी प्रमाण है।

**निष्कर्ष** - न्याय दर्शन इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान स्वरूप दोनों कारकों के स मुह को कारक साकल्य कहते हुए कारक साकल्य को ही प्रमाण का लक्षण स्वीकार करता है।

## अन्य दर्शनों के तर्क -

अन्य दर्शनों के कारक साकल्य के विपक्ष में बहुत सारे तर्क उत्पन्न होते हैं। उनमें जैन दर्शन ने कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं जिन तर्कों को निराधार घोषित नहीं किया जा सकता है और न ही उन तर्कों के विपक्ष में कोई भी वस्तुनिष्ठ तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है। वह तर्क निम्न है:-

1 - कारक साकल्य मुख्य रूप से प्रमाण है या उपचार रूप से यदि, कारक साकल्य को मुख्य रूप से प्रमाण माना जाता है तो उसे न्याय दर्शन स्वयं अज्ञान रूप मानता है और जो अज्ञान रूप होता है वह स्व और पर का ज्ञान कराने में मुख्य रूप से साधकतम नहीं हो सकता है।

2 - कारक साकल्य को ज्ञान का मुख्य रूप से साधकतम नहीं माना जा सकता है। वह तो अज्ञान का विरोधी ज्ञान कैसे हो सकता है, ज्ञान और जानकारी के बीच में किसी दूसरे का व्यवधान नहीं है।

3 - ज्ञान के होते ही पदार्थ की जानकारी हो जाती है, किन्तु कारक साकल्य के होते ही पदार्थ की जानकारी उत्पन्न नहीं होती है। कारक साकल्य ज्ञान को उत्पन्न करता है इसके बाद ही पदार्थ की जानकारी होती है। अतः कारक साकल्य और जानकारी के बीच में ज्ञान का व्यवधान होता है। इसलिये कारक साकल्य को मुख्य रूप से प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

4 - जिस कार्य में जो दूर से व्यवहित होता है वह उस कार्य में मुख्य रूप से साधकतम नहीं कहा जा सकता। जैसे लकड़ी को यद्यपि बढई काटता है किन्तु बिना कुल्हाड़ी के लकड़ी नहीं काटी जा सकती अतः बढई मुख्य रूप से लकड़ी के काटने में साधकतम नहीं है। इसी तरह कारक साकल्य भी स्व पर की जानकारी स्वयं नहीं कराता किन्तु ज्ञान के द्वारा ही स्व पर की जानकारी होती है। अतः कारक साकल्य मुख्य रूप से प्रमाण नहीं है।

**अभिमत** - जैन दर्शन कारक साकल्य को मुख्य प्रमाण नहीं मानते हुए उपचार प्रमाण मानने को तैयार हो जाता है, वह मानता है कि साकल्य को



उपचार से प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं है किन्तु मुख्य प्रमाण कारक साकल्य कभी नहीं हो सकता है, मुख्य प्रमाण तो ज्ञान ही होगा, और वह ज्ञान सम्यक् ज्ञान होगा अतः सम्यक् ज्ञान को प्रमाण का लक्षण माना जा सकता है, लिंग, शब्द आदि भी उपचार से ही प्रमाण हैं।



## प्रमाण लक्षण : इन्द्रिय व्यापार की समीक्षा

सांख्य दर्शन में प्रमाण के लक्षण की सिद्धि के लिए इन्द्रिय व्यापार को प्राथमिकता दी गयी है। उनका कहना है कि सन्निकर्ष और कारक साकल्य से भले ही प्रमाण सिद्ध न हो और न ही इसे प्रमाण का लक्षण माना जाये किन्तु अर्थ की जानकारी में इन्द्रिय व्यापार ही साधकतम होता है। अतः उसे प्रमाण माना जाना चाहिये। सांख्य दर्शन के इस संदर्भ में कुछ तर्क हैं जो निम्न है:—

1 - इन्द्रियां जब विषय के आकार में परिणमन करती हैं तभी वे अपने प्रतिनियत शब्द का ज्ञान कराती है।

2 - पदार्थ का संपर्क होने से पहले इन्द्रियों का विषयाकार होना इन्द्रिय वृत्ति/व्यापार कहलाता है।

**निष्कर्ष** — अतः सांख्य दर्शन के अनुसार यह इन्द्रिय व्यापार अथवा वृत्ति ही प्रमाण का लक्षण माना जा सकता है।

भारतीय दर्शन के मनीषियों ने इन्द्रिय वृत्ति को प्रमाण मानने में अनेक बाधाओं को सामने देखा और उन्होंने इन्द्रिय वृत्ति प्रमाण का लक्षण मानने के लिये अपने आपको सहमत नहीं किया और उन्होंने इस प्रमाण की गहरी आलोचना की। उन आलोचना करने वाले विद्वानों के तर्क ठोस तौर पर रहे जिनमें जैन दर्शन के आचार्य बहुत मुखर हुए। उन आचार्यों ने अपने तर्क इतने सटीक दिये हैं कि उन्हें बिना किसी हिचक के स्वीकार किया जा सकता है जो तर्क निम्न है:—

1. **इन्द्रिय वृत्ति अचेतन है** - इन्द्रिय वृत्ति अचेतन होने के कारण वह पदार्थ का

ज्ञान कराने में साधकतम नहीं हो सकती है:—

2. **इन्द्रिय वृत्ति क्या है** — इसे स्पष्ट करने के लिये तीन तर्क सामने आते हैं या तो इन्द्रिय का पदार्थ के पास जाना होगा अथवा पदार्थ की ओर अभिमुख होना होगा या फिर पदार्थ के आकार इन्द्रियों को होना पड़ेगा। इनमें पहले पक्ष का खण्डन करते हुए यह कहा जा सकता है कि इन्द्रियां पदार्थ के पास नहीं जाती है यह प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है। दूसरे पक्ष का खण्डन करते हुए यह कहते हैं कि इन्द्रियां पदार्थ के अभिमुख नहीं होती हैं क्योंकि इन्द्रियां ज्ञान की उत्पत्ति में कारण ही हो सकती हैं और वह कारण भी उपचार रूप से होगा, मुख्य रूप से नहीं ऐसी स्थिति में इन्द्रिय व्यापार को प्रमाण मान लेने में जैन दर्शन को भी कोई आपत्ति नहीं है किन्तु इन्द्रिय व्यापार को मुख्य कारण नहीं माना जा सकता है इसलिए इन्द्रिय व्यापार प्रमाण का लक्षण सिद्ध हो सकता है। इसलिये इन्द्रिय व्यापार प्रमाण का लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता है।

तीसरे पक्ष का खण्डन भी अपने आप हो जाता है, क्योंकि इन्द्रियों का पदार्थ के आकार होना प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखा जाता है, ऐसी स्थिति में इन्द्रिय व्यापार तीनों परिस्थितियों में सिद्ध नहीं हो पाता है। तब फिर यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिय व्यापार मुख्य प्रमाण नहीं होगा, मात्र उपचार से प्रमाण माना जा सकता है।

3. **इन्द्रिय वृत्ति/व्यापार को लेकर सबसे बड़ा प्रश्न यह पैदा होता है कि इन्द्रिय वृत्ति भिन्न है अथवा अभिन्न**। यदि इन्द्रिय वृत्ति को अभिन्न माना जाये तो सोते हुए व्यक्ति को भी ज्ञान होना चाहिए। कारण कि इन्द्रिय वृत्ति इन्द्रिय और वृत्ति दोनों एक ही होगी, अलग-अलग नहीं होगी ऐसी स्थिति में व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में ज्ञान के व्यापार को नहीं रोक सकता है चाहे वह स्वप्न में हो, सोता हो, उसे ज्ञान होता ही रहेगा।

अब यदि इन्द्रिय और वृत्ति को भिन्न माना जाता है तो यह प्रश्न होता है कि इन्द्रिय और वृत्ति दोनों संबद्ध है अथवा असंबद्ध। यदि उन्हें संबद्ध माना जाये तो समवाय रूप में माना जाये या फिर संयोग रूप में अथवा विशेषण विशेष्य रूप में माना जाये। यदि संयोग रूप में माना जायेगा तो वृत्ति और इन्द्रिय दोनों पृथक-पृथक द्रव्य होना चाहिये

क्योंकि संयोग दो द्रव्यों में ही होता है, एक द्रव्य में नहीं और संयोग मानने पर जब वृत्ति इन्द्रिय दोनों पृथक् द्रव्य हो जायेंगे तो फिर वृत्ति को इन्द्रिय का धर्म नहीं माना जा सकता है। इन्द्रिय और वृत्ति में समवाय सिद्ध नहीं होता है तथा इन्द्रिय और वृत्ति में विशेषण विशेष्य संबंध भी सिद्ध नहीं होता है क्योंकि संबंधांतर संबद्ध वस्तु में विशेषण विशेष संबंध बनता है।

**निष्कर्ष**— इस तरह इन्द्रिय व्यापार प्रमाण का लक्षण समीचीन रूप से सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि इन्द्रिय व्यापार ज्ञान के प्रति साधकतम नहीं सिद्ध हो रहा है।



## ज्ञातृ व्यापार मीमांसक प्रमाण लक्षण की समीक्षा

भारतीय दर्शनों में मीमांसक दर्शन का चिंतन भी काफी गहरा माना जाता है, और उन्होने भी प्रमाण का लक्षण स्पष्ट करते हुए सन्निकर्ष प्रमाण के लक्षण को और कारक साकल्य न्याय दर्शन के प्रमाण लक्षण को नकारते हुए इन्द्रिय वृत्ति सांख्य प्रमाण लक्षण को सिरे से खारिज करते हुए अपना प्रमाण का लक्षण देखते हुए कहा कि ज्ञातृ व्यापार/ज्ञाता का व्यापार प्रमाण का लक्षण निर्दोष हो सकता है।

इस अपने कथन को आधार देते हुए मीमांसक दर्शन के विद्वानों ने कुछ अपने तर्क भी प्रस्तुत किये हैं जो निम्न है:—

1 - ज्ञाता के व्यापार बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है।

2 - कारक तभी कारक कहा जा सकता है जब उसमें क्रिया हो इसलिये क्रिया से युक्त द्रव्य ही कारक कहा जाता है जिसमें क्रिया नहीं वह वस्तु मात्र है, उसे कारक नहीं माना जा सकता है। फलार्थी पुरुष केवल वस्तु मात्र को नहीं अपनाते किन्तु जो इष्ट प्रयोजन का साधक होता है उसे ही अपनाते है इसलिये भोजन बनाते समय चावल, पानी, आग, और बर्तन इन्हें कारक कहा जा सकता है जो पहले से तैयार है, इन्हे अपनाया जाता है किन्तु यदि भोजन न बनाया जाये

तो यह सब वस्तुएँ भोजन के लिये कारक नहीं हो सकती हैं इसी तरह आत्मा, इन्द्रिय, मन और पदार्थ इन चारों का मेल होने पर जब ज्ञाता का व्यापार होता है तभी वह ज्ञान के लिये साधकतम हो सकते है इसलिये ज्ञाता का व्यापार प्रमाण कहा जा सकता है।

3 - ज्ञाता का व्यापार ही प्रमाण है क्यों कि पदार्थ का ज्ञान कराने रूप फल को प्राप्त कराने में ज्ञाता का व्यापार ही साधकतम है जो प्रमाण नहीं वह साधकतम भी नहीं होता है जैसे सन्निकर्ष, कारक साकल्य और इन्द्रिय व्यापार।

**निष्कर्ष**— उपरोक्त तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कारक साकल्य सन्निकर्ष, इन्द्रिय व्यापार तो प्रमाण के रूप में नहीं माने जा सकते है किन्तु ज्ञाता का व्यापार प्रमाण रूप में सिद्ध होता है। (मीमांसा श्लोक—पृ0151 शास्त्र दीपिका पृष्ठ 202)

मीमांसक दर्शन के अनुसार ज्ञाता का व्यापार प्रमाण का लक्षण मानने में भारतीय दर्शन के अनेक विचक्षण विद्वान सहमत नहीं हुए उन्होने इस प्रमाण के लक्षण की खूब आलोचना की जिससे जैन आचार्यों ने इस मीमांसक प्रमाण के लक्षण को अमान्य करते हुए अपने ठोस तर्क सामने रखे, जो निम्न है:—

**तर्क 1** - ज्ञाता का व्यापार अपनी सत्ता पृथक् रूप से नहीं रखता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अनुमान किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है, अतः उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

**तर्क 2** - ज्ञाता का व्यापार अपनी प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध नहीं होता है क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष से आत्मा और मन के सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष से अथवा संवेदना प्रत्यक्ष से इस तरह इन तीनों प्रत्यक्षों में से किस प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञाता का व्यापार सिद्ध होता है यदि पहला पक्ष सामने रखा जाये तो उसके अनुसार भी इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ का ज्ञान करती है जो पदार्थ उनसे संबद्ध होता है और जो उनके ग्रहण करने योग्य होता है। ज्ञाता का व्यापार इन्द्रियों के साथ संबंध स्थापित नहीं कर पाता है और न

अत्यन्त परोक्ष होने के कारण वह इन्द्रियों के ग्रहण योग्य भी नहीं है।

दूसरे पक्ष आत्मा और मन के सन्निकर्ष से ज्ञाता का व्यापार प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध नहीं होता है क्योंकि वह अपने योग्य सुख आदि को ही जान सकता है अन्य बाह्य पदार्थ को नहीं।

तीसरा पक्ष भी सिद्ध नहीं होता है क्योंकि मीमांसक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को नहीं मानते हैं साथ ही अत्यन्त परोक्ष वस्तु का स्वसंवेदन भी नहीं हो सकता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञाता का व्यापार सिद्ध नहीं होता है।

**तर्क 3** - अनुमान प्रमाण से भी ज्ञाता के व्यापार की सत्ता सिद्ध नहीं होती है, साध्य और साधन का संबंध जानकर साधन से साध्य के ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं जैसे ज्ञातृ व्यापार है क्योंकि उसके बिना अर्थ का बोध नहीं हो सकता है, यहां पर ज्ञातृ व्यापार साधन है, और उसके बिना अर्थ का बोध नहीं हो सकता है यह साधन है तो साधन और साध्य से संबंध का ज्ञान जहां जहां अर्थ बोध होता है वहाँ वहाँ ज्ञातृ व्यापार होता है इस नियम का ज्ञान किस प्रमाण से होता है प्रत्यक्ष से या अनुमान से। प्रत्यक्ष से तो नहीं हो सकता क्योंकि धुंआ और अग्नि देखकर उनका संबंध जाना जाता है जहाँ-जहाँ धुंआ होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, इसी तरह प्रत्यक्ष से ज्ञातृ व्यापार अर्थ और अर्थबोध को जानकर ही उनके संबंध ज्ञान हो सकता है किन्तु प्रत्यक्ष से ज्ञातृ व्यापार का बोध नहीं होता है। यदि होता है तो फिर उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये अनुमान की आवश्यकता क्या है और यदि साध्य, साधन के संबंध का ज्ञान अनुमान से माना जाये तो ज्ञातृ व्यापार है क्योंकि उसके बिना अर्थ का बोध नहीं हो सकता है इसी अनुमान से मानते हैं या कोई दूसरे अनुमान से। यदि इसी अनुमान से मानते हैं तो परस्पर आश्रय दोष आ जावेगा क्योंकि साध्य साधन के संबंध का ज्ञान हो तो अनुमान बने और अनुमान हो तो साध्य साधन के संबंध का ज्ञान होगा। यदि इस अनुमान के साध्य साधन के संबंध का ज्ञान दूसरे अनुमान से मानते हैं तो दूसरा अनुमान भी साध्य साधन के संबंध ज्ञान के बिना नहीं बन

सकता है। अतः तीसरे अनुमान की आवश्यकता पड़ेगी, और तीसरे अनुमान का ज्ञान करने के लिये चौथे अनुमान की इस तरह अनवस्था नामक दोष आता है।

**तर्क 4** - अर्थापत्ति के प्रमाण से ज्ञाता के व्यापार का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है, जो अनुमान से सिद्ध करने में दोष आये वे ही दोष इस प्रमाण से सिद्ध करने में आते हैं क्योंकि अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ का अपने साध्य के साथ संबंध सिद्ध हो जाने पर ही अर्थापत्ति प्रमाणगमक हो सकता है अन्यथा नहीं।

**निष्कर्ष** - अतः ज्ञाता का व्यापार का अस्तित्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है।

**तर्क 5** - यदि किसी भी प्रमाण से ज्ञाता का व्यापार सिद्ध नहीं होने पर भी उसका अस्तित्व माना जाये तो प्रश्न यह पैदा होगा कि उसका अस्तित्व कारकों से उत्पन्न है अथवा अनुत्पन्न तो हो नहीं सकता क्योंकि वह एक व्यापार है, व्यापार तो कारकों से ही उत्पन्न होता है वह अर्थ प्रकाशन रूप फल का जनक नहीं हो सकता, यदि अभाव रूप ज्ञातृ व्यापार से भी पदार्थों का बोध हो जाता है तो फिर उसके लिये कारकों की खोज करना ही व्यर्थ है। तो फिर अभाव से ही सबकी इष्ट सिद्धि हो जायेगी।

**तर्क 6** - ज्ञाता का व्यापार भाव रूप है तो वह नित्य है या अनित्य, अनित्य तो हो नहीं सकता क्योंकि जो अजन्य है और भावरूप है उसको अनित्य नहीं माना जा सकता है, यदि ज्ञाता के व्यापार को नित्य माना जाये तो सबको सब पदार्थों का ज्ञान होने का प्रसंग आ जायेगा और ज्ञाता के व्यापार की उत्पत्ति के लिए दीपक आदि कारकों को खोजना व्यर्थ होगा।

**तर्क 7** - यदि ज्ञाता व्यापार कारकों से उत्पन्न है तो क्रिया रूप है या अक्रिया रूप। यदि क्रिया रूप है तो व्यापक आत्मा हलन चलन रूप क्रिया का आश्रय नहीं हो सकता है, क्योंकि मीमांसक दर्शन में आत्मा को व्यापक माना गया है यदि वह अक्रिया रूप है तो फिर प्रश्न पैदा होता है कि ज्ञानरूप है या अज्ञान रूप। यदि वह ज्ञान रूप है तो अत्यन्त परोक्ष नहीं हो सकता जैसा कि मीमांसक दर्शन

मानता है, और यदि अज्ञान रूप है तो घटपट की तरह प्रमाण रूप नहीं हो सकता है क्योंकि, जो अज्ञान रूप है वह प्रमाण नहीं हो सकता है।

**निष्कर्ष** – उपरोक्त सभी तर्कों के आधार पर यह परिणाम निकलता है कि ज्ञाता का व्यापार प्रमाण का लक्षण उचित प्रतीत नहीं होता है।



## धारावाहिक ज्ञान प्रमाण का लक्षण कैसे ?

भारतीय दर्शनों में मीमांसक वेशेषिक और न्याय दर्शन धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानता है, और बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं। इसी उहापोह आत्मक स्थिति में यह तय करना मुश्किल हो जाता है कि धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना जाये अथवा न माना जाये। धारावाहिक ज्ञान की मूल अवधारणा इस प्रकार कि किसी भी वस्तु के ज्ञान करने के बाद उसका दूसरी बार अथवा तीसरी बार ज्ञान होना धारावाहिक ज्ञान कहलाता है। वेशेषिक और न्याय दर्शन धारावाहिक को प्रमाण मानने के लिए अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं, उन तर्कों में वह कहते हैं कि उनसे परिच्छिन्ती होती है और यह धारावाहिक ज्ञान लोक में प्रमाण माना जाता है, ग्रहित ग्रही ज्ञान होने पर भी यह धारावाहिक ज्ञान प्रमाण होता है।

भाट्ट मीमांसक धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण सिद्ध करने के लिए एक ही तर्क देते हैं कि धारावाहिक ज्ञान में सूक्ष्म काल भेद होने पर भी अनधिगत सूक्ष्म काल भेद को ग्रहण करने से वह धारावाहिक ज्ञान प्रमाण के रूप में सिद्ध होता है।

प्रभाकर मीमांसक मत मानने वाले अपने तर्क देते हुए कहते हैं कि धारावाहिक ज्ञान में काल भेद का भान होना शक्य नहीं है, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है, परन्तु हां पूर्व ज्ञान से उत्तर ज्ञानों में कोई विशेषता नहीं देखी जाती है जिस प्रकार पहले ज्ञान का अनुभव होता है उसी प्रकार दूसरे ज्ञान का भी अनुभव होता है इसलिये धारावाहिक ज्ञानों में प्रथम ज्ञान से न तो उत्पत्ति की अपेक्षा कोई विशेषता है और

न ही प्रतीति की अपेक्षा से कोई विशेषता होती है। अतएव प्रथम ज्ञान की तरह दूसरा ज्ञान या धारावाहिक ज्ञान प्रमाण माना जा सकता है।

**प्रथम बौद्ध दर्शन का अभिमत** – यद्यपि बौद्ध दर्शन अनधिगत पदार्थ के ज्ञान को ही प्रमाण मानता है और अनधिगत अर्थ धारावाहिक ज्ञान में संभव नहीं होता है इसलिए धारावाहिक ज्ञान स्वतः ही अप्रमाण हो जाता है। फिर भी धर्मकीर्ति के टीकाकार अर्चट ने पुरुष भेद की अपेक्षा से उनमें प्रमाण और अप्रमाण दोनों रूप स्वीकार किए जा सकते हैं। क्षणभेद दृष्टा योगी की अपेक्षा से धारावाहिक ज्ञान में प्रमाण पना सिद्ध हो सकता है और क्षणभेद अदृष्टा व्यवहारिक पुरुषों की अपेक्षा से अप्रमाण पना सिद्ध हो सकता है और हेतु बिन्दु टीका में भी इस प्रकार का वर्णन मिलता है, तथा प्रकरण पंजीका में भी इस धारावाहिक ज्ञान के लिए भी अपना अभिमत प्राप्त होता है।

1-जैन परंपरा के श्वेताम्बर तार्किक आचार्यों ने धारावाहिक ज्ञान को प्रायः प्रमाण ही माना है। उन्होंने उसे अप्रमाण नहीं कहा किन्तु आचार्य अकलंक देव और उनके पश्चात हुए सभी दिगम्बर आचार्यों ने धारावाहिक ज्ञान को अप्रमाण ही माना है, अप्रमाण मानते हुए इन आचार्यों ने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्वार्थ विशेषण दिया है। आचार्य विद्यानंदी का अभिमत भी धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानने वाला प्रथम दृष्टया प्रतीत होता है किन्तु जब वे सर्वथा अपूर्वार्थपने का विरोध करते हुए कथंचित् अपूर्वार्थ को स्वीकार कर लेते हैं तब यह विदित हो जाता है कि धारावाहिक ज्ञान उन्हें भी प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं हुआ है। उन्होंने परिच्छिन्ति के अभाव में जिस प्रकार प्रमाण का संप्लव स्वीकार नहीं किया है उसी प्रकार धारावाहिक ज्ञान को प्रमिति विशेष के अभाव में स्वीकार नहीं किया है। अतः धारावाहिक ज्ञानों को अप्रमाण मानने का अभिप्रायः स्पष्ट रूप से मालूम पड़ता है। इसलिये धारावाहिक ज्ञानों से यदि प्रमिति विशेष उत्पन्न नहीं होता है तो उन्हें अप्रमाण कहना अयुक्त नहीं है अर्थात् युक्त ही है।

प्रथम घटादिज्ञान के अलावा उत्तरवर्ती अविशिष्ट घटादि ज्ञानों को अज्ञान

निवृत्ति रूप जानकारी को उत्पन्न करने का कारण नहीं होने के कारण धारावाहिक ज्ञान अप्रमाण ही है इसका स्पष्ट रूप से प्रतिपादन न्याय दीपिका में उपलब्ध है। इस तरह न्याय दीपिकाकार ने आचार्य अकलंक देव के बताये हुए मार्ग का अनुकरण ही किया है। धारावाहिक ज्ञान को यदि निष्कर्ष तौर पर अप्रमाण माना जाये तो उचित ही होगा। किन्तु अपूर्वार्थक शब्द पर विचार करने के बाद कथंचित् अपूर्वार्थक शब्द स्वीकार करने वाले आचार्यों की दृष्टि में धारावाहिक ज्ञानों को प्रमाण स्वीकार नहीं किया जा सकता है।



## सांख्य के अचेतन ज्ञानवाद की समीक्षा

भारतीय दर्शनों में प्रायः सभी दर्शनों ने ज्ञान को चेतन आत्मक रूप में ही स्वीकार किया है किन्तु सांख्य दर्शन एक ऐसा दर्शन है जो ज्ञान को घटपट की तरह अचेतन ही स्वीकार करता है। वह ज्ञान को प्रधानतत्त्व का परिणाम मानता है, जो चेतन होता है वह प्रधान का परिणाम नहीं होता है जैसे आत्मा किन्तु ज्ञान प्रधान का परिणाम है इसलिए वह अचेतन ही होगा। इस सांख्य दर्शन की मूल अवधारणा को आधार प्रदान करते हुए सांख्य दर्शन के लोग अपने तर्क देते हैं, जो निम्न है:-

1 - जब प्रधान नाम का तत्त्व सृष्टि की रचना में लगता तो सबसे पहले उससे एक व्यापक महान् तत्त्व का जन्म होता है और यह महान नाम का तत्त्व विषयों का अध्यवसाय कराता है। यह प्रलयकाल तक स्थायी रहता है। इस तत्त्व को हम नहीं जान सकते। इस तत्त्व से प्रत्येक प्राणी की बुद्धि निकलती है और यह बुद्धियां दूसरे प्रमाणों के द्वारा जानी जाती है किन्तु यह बुद्धि जड़ है इसलिये उसमें ज्ञान का उदय हो नहीं सकता अतः अकेले न तो पुरुष और न बुद्धि में अनुभव की उपलब्धि होती है। किन्तु दोनों के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, जब इन्द्रिया पदार्थ को बुद्धि के सामने उपस्थिति करती तब बुद्धि उस पदार्थ के आकार को धारण कर लेती है। इतने पर भी तब तक अनुभव का उदय

नहीं होता जब तक बुद्धि में चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। जब बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष का पदार्थों से सम्पर्क हो जाता है तभी ज्ञान की उत्पत्ति होती है वही ज्ञान कहलाता है। जब तक दर्पण के समान बुद्धि में पदार्थ का आकार संक्रान्त नहीं होता तब तक पुरुष को उसका भान नहीं होता है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित अर्थ का अनुभव पुरुष करता है यह अनुभव बुद्धि और पुरुष के संयोग का परिणाम है। जैसे लोहे का गोला और आग अलग-अलग होते हैं किन्तु जब लोहे का गोला अग्निरूप हो जाता है तो मूर्ख पुरुष उसे अग्नि का गोला मानते हैं अग्नि और गोले को एक समझ लेते हैं। वैसे ही बुद्धि और चैतन्य पृथक पृथक है किन्तु अचेतन बुद्धि भी चेतन के संयोग से चेतन की तरह लगने लगती है। बुद्धि के अचेतन होने से उसमें पदार्थ की उपस्थिति होने पर जो ज्ञान और सुख आदि उत्पन्न होते हैं वह भी अचेतन हैं।

अतः अचेतन ज्ञान स्वसंवेदित नहीं हो सकता है।

इस सांख्य के तर्क को खण्डित करने के लिए अनेक दर्शनो ने अपने पक्ष प्रस्तुत किये हैं, उन पक्षों में से जैन दर्शन ने भी अपना पक्ष स्पष्ट तौर पर रखा है और अपना पक्ष रखते हुए कुछ आधारभूत तर्क दिये हैं जो निम्न है :-

**तर्क 1-** ज्ञान जड़ का धर्म नहीं है, वह तो आत्मा का धर्म है। आत्मा ज्ञान परिणाम वाला है क्योंकि वह दृष्टा है। जो ज्ञान परिणाम वाला नहीं होता वह दृष्टा नहीं हो सकता है, जैसे मकान आदि। चूंकि आत्मा दृष्टा है अतः वह ज्ञान वाला है।

**तर्क 2-** यदि अनित्य ज्ञान को प्रधान का परिणाम माना जायेगा तो प्रधान भी अनित्य हो जायेगा।

**तर्क 3 -** व्यक्त और अव्यक्त प्रधान में अभेद होने पर भी व्यक्त प्रधान ही अनित्य है, क्योंकि वह परिणाम रूप है, अव्यक्त प्रधान अनित्य नहीं है, क्योंकि वह परिणामी है। इस सांख्य दर्शन के तर्क का उत्तर देते हुए जैन आचार्य अपना तर्क देते हैं कि ज्ञान और आत्मा में अभेद होने पर भी ज्ञान ही अनित्य है क्योंकि



वह परिणामी है, और आत्मा अनित्य नहीं है फिर भी वह परिणामी है। यदि आत्मा को अपरिणामी माना जायेगा तो वह अर्थक्रिया न होने पर आत्मा का अभाव हो जायेगा क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुपने का लक्षण है।

**तर्क 4** - बुद्धि को प्रलयकाल तक स्थायी और व्यापी मानना भी संगत नहीं है, क्योंकि वह बुद्धि प्रधान का परिणाम है। इस तर्क का आधार यह है कि जैसे घट प्रधान का परिणाम होने पर भी न तो व्यापी है और न ही प्रलयकाल तक स्थायी। उसी तरह बुद्धि भी प्रलयकाल तक स्थायी नहीं होना चाहिए। आकाश प्रधान का परिणाम होने पर भी व्यापक और स्थायी है इसी तरह बुद्धि भी यदि कोई ऐसा कहता है तो उसका यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि आकाश भी प्रधान का परिणाम नहीं है, यदि उसे प्रधान का परिणाम माना जायेगा तो वह भी व्यापक और स्थायी नहीं हो सकता है।

**तर्क 5** - प्रधान का परिणाम होने पर भी परिणाम तो व्यापक और प्रलयकाल तक स्थायी होता है और कोई नहीं होता है, इस सांख्य दर्शन के कथन का खण्डन करते हुए जैनाचार्य कहते हैं तो प्रधान का परिणाम होने पर भी ज्ञान भी ज्ञान को स्वसंवेदित और घट को अस्वसंवेदित असत्य क्यों नहीं मान लेते? तथा यह बुद्धि परिणाम पहले-पहले प्रकृति से कैसे होता है? यदि स्वभाव से होता है तो जो स्वभाविक होता है वह अनित्य नहीं हो सकता है।

अतः बुद्धिरूप परिणाम सदा स्थायी रहेगा क्योंकि स्वभाव सदा स्थायी रहता है।

**तर्क नं. 7** - मुझे आत्मा के लिए भोग का संपादन करना चाहिए इस भाव से प्रकृति महत आदि रूप से परिणमन करती है। इस सांख्य के कथन का जैन आचार्य खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रकृति तो जड़ है उसमें इस प्रकार का अनुसंधान हो नहीं सकता है बुद्धि वृत्ति के उत्पन्न होने पर और उसमें चेतन की छाया पड़ने पर ही अनुसंधान होता है और सृष्टिकाल के आरंभ में 'मैं' पुरुष उस समय तक अभिलाषा से शून्य है। इसके सिवा जैसे आकाश, उसी तरह आत्मा भी सांख्य दर्शन में व्यापक है और दर्पण स्वच्छ होता है अतः मुख का दर्पण में प्रतिबिंबित होना

उचित है किन्तु बुद्धि तो त्रिगुणात्मक (सत्व, रज और तम) होने से अत्यन्त मलिन है और पुरुष अत्यन्त निर्मल है, तब पुरुष बुद्धि में प्रतिबिंबित कैसे हो सकता है यदि होता भी हो, तो हम उसे जान कैसे सकते हैं यदि जान ले तो प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान होने से सब सदा के लिये मुक्त हो जायेंगे।

**तर्क न. 8** - चेतन के संसर्ग से अचेतन बुद्धि भी चेतन की तरह प्रतीत होती है तो यहां संसर्ग शब्द का क्या अर्थ है? बुद्धि में चेतन का प्रतिबिंबित होना अथवा प्रकृति का भोग्य और पुरुष का भोक्ता होना, प्रथम पक्ष की आलोचना तर्क न. 7 में की जा चुकी है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि पुरुष अभिलाषा से रहित है और पुरुष के अभिलाषा से रहित होने पर प्रकृति की योग्यता ओर पुरुष की भोक्तृत्वा नहीं बन सकती है। क्यों कि सुख दुख की अनुभूति रूप भोग के अभाव में भोग्य और भोक्तापन नहीं होता है। बुद्धि और चेतन्य के लिये अग्नि और लोहे के गोले का दृष्टान्त भी उचित नहीं है, क्योंकि अग्नि और लोहे के गोले में परस्पर भेद नहीं है कारण कि लोहे का गोला आग में पड़कर अपने पूर्व रूप को छोड़ देता है और विशिष्ट रूप तथा स्पर्श को धारण करके अग्निरूप परिणित हो जाता है, इसी तरह यहां भी एक स्वपर प्रकाश वस्तु का अनुभव होता है उसमें किसी दूसरे का सद्भाव नहीं मानना चाहिए। चैतन्य, बुद्धि, अध्यवसाय, ज्ञान, संवित्, यह सब एक ही संवित् रूप की पर्याय हैं अतः बुद्धि और चैतन्य को जुदा मानकर ज्ञान को अस्वसंवेदित मानना उचित नहीं है।

**निष्कर्ष** - इस तरह जैन दर्शन में ज्ञान चैतन्य स्वरूप है, अतः वह जैसे बाह्य पदार्थ के उन्मुख होने पर बाह्य पदार्थ को ग्रहण करता है वैसे ही अपने उन्मुख होने पर अपने को भी ग्रहण करता है। यदि ऐसा न हो तो मैं घट को जानता हूँ, इस प्रकार प्रतीति नहीं हो सकती, भला ऐसा कौन समझदार व्यक्ति होगा जो ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित पदार्थ का प्रत्यक्ष होना तो माने और ज्ञान का प्रत्यक्ष न माने। जैसे प्रकाश का प्रत्यक्ष हुए बिना उसके द्वारा प्रकाशित अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इसलिये जैन दर्शन स्वपर प्रकाशक ज्ञान को ही प्रमाण मानता है।



## अविसंवादी विशेषण प्रमाण के लक्षण में कितना मूल्यवान

बौद्ध दर्शन के दार्शनिकों ने प्रमाण का लक्षण निश्चित करते हुए अविसंवादी शब्द का प्रयोग किया है तथा जैन आचार्य अकलंक देव ने भी अपने प्रमाण का लक्षण निश्चित करते हुए अविसंवादी शब्द का प्रयोग किया है किन्तु दोनों के अविसंवादी शब्द में भाव स्पष्ट अलग-अलग होता है। दोनों के भावों को किस रूप में दार्शनिक लोगों ने ग्रहण किया यह वाद मूल्यांकित करना लेख का मुख्य लक्ष्य है।



### परोक्षवाद मीमांसक

भारतीय दर्शन में ज्ञान को प्रायः सभी दर्शनों में स्वसंवेदी माना है, किन्तु मीमांसक दर्शन ऐसा दर्शन है जो ज्ञान को स्वसंवेदी नहीं मानता। उनका कहना है कि ज्ञान को स्वसंवेदन मानना प्रमाण विरुद्ध है; ज्ञान तो परोक्ष ही है इस अपनी मूल अवधारणा को आधार देते हुये मीमांसक कहते हैं कि उस ज्ञान की कर्म रूप प्रतीति नहीं होती है जिसे भी प्रत्यक्ष माना जाए उसकी कर्म रूप प्रतीति होना अनिवार्य है। जैसे - पदार्थ की प्रतीति कर्म रूप होती है किन्तु ज्ञान की प्रतीति कर्म रूप नहीं होती। इस आधार पर ज्ञान को परोक्ष रूप ही माना जा सकता है।

1) यदि ज्ञान परोक्ष है तो इसके ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से ज्ञान का ही अभाव हो जायेगा इस प्रकार के आरोप का खण्डन करते हुये मीमांसक कहते हैं कि प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान की प्रतीति नहीं होती है हम उसे नित्य परोक्ष मानते हैं। क्योंकि अर्थापत्ति नाम का प्रमाण उस ज्ञान का ग्राहक है ज्ञान से पदार्थ प्रकट हो जाता है इसलिये ज्ञान परोक्ष है और पदार्थ प्रत्यक्ष रूप माना जाता है।

2) ज्ञान से प्रवृत्ति करने की योग्यता आती है प्रवृत्ति को देखकर ही ज्ञान का अनुमान होता है। प्रयोजन के अनुसार ही मनुष्य कदाचित् पदार्थ में प्रवृत्ति

करता है कदाचित् नहीं करता है इसलिए ज्ञान परोक्ष है और पदार्थ प्रत्यक्ष है।

इस तरह मीमांसकों के ज्ञान को परोक्ष सिद्ध करने वाले आधार हीन तर्कों का एवं विसंगत तर्कों का चुटकी में खण्डन करने वाले जैनाचार्यों ने अपने तर्क प्रस्तुत करते हुये अनेक दृष्टिकोण पाठकों के सामने रखें, उनमें से कुछ तर्क दृष्टि इस प्रकार हैं -

1. जिस प्रकार आत्मा और ज्ञान फल कर्म रूप से प्रतीति नहीं होने पर उनको मीमांसक प्रत्यक्ष रूप मानता है। उसी प्रकार उन्हें प्रमाण रूप से अभिमत करण ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान की कर्म से नहीं करण रूप से प्रतीति होती है।

2. यदि ज्ञान को करण मानते हुये प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं तो कर्तारूप से और फल रूप से प्रतीतमान आत्मा और फलज्ञान को भी कर्ता और फल ही मानना होगा, न कि प्रत्यक्ष। ये दोनों पक्ष में आक्षेप और समाधान समान होते हैं।

3. ज्ञान की कर्म रूप प्रतीति नहीं होती है, इसका खण्डन करने के लिये दो विकल्प प्रस्तुत किये जाते हैं, (अ) समस्त प्रमाणों की अपेक्षा कर्मरूप प्रतीति नहीं होती है या फिर (ब) स्वरूप की अपेक्षा कर्मरूप प्रतीति नहीं होती है। विकल्प के खण्डन में तर्क प्रस्तुत करते हुये जैनाचार्य कहते हैं कि-

(अ) ज्ञान का अस्तित्व ही दुर्लभ हो जायेगा क्योंकि वह सत् भी नहीं रहेगा इसलिये ज्ञान के प्रत्यक्ष रहने पर प्रमाणान्तर से ज्ञान की प्रतीति माननी होगी और प्रमाणान्तर से ज्ञान की प्रतीति स्वीकार करें और ज्ञान को कर्म न माने तो ऐसा संभव नहीं होता है क्योंकि जिसकी प्रतीति होती है वह कर्म न हो यह असंभव है।

(ब) (विकल्प के खण्डन के लिये तर्क) यह विकल्प अनुभव विरुद्ध होने से अयुक्त है (उचित नहीं है) क्योंकि घट के ज्ञान में कर्मपने की सिद्धि होती है।

4. यदि बुद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय नहीं है तो मीमांसक उस बुद्धि की

सत्ता प्रत्यक्ष से सिद्ध करेंगे अथवा अनुमान से। प्रत्यक्ष से बुद्धि की सत्ता सिद्ध करने पर उनके मत का खण्डन हो जाता है क्योंकि मीमांसक यदि प्रत्यक्ष से ही बुद्धि को स्वसंवेदी मानते हैं तो ये चर्चा करना ही निरर्थक होती है यदि अनुमान से बुद्धि का अस्तित्व सिद्ध करते हैं तो अनुमान की सिद्धि हेतु से होती है और ज्ञान का अविनाभावी कोई हेतु नहीं है यदि ज्ञान का कोई हेतु है तो वह विषय है, कि मन है, कि इन्द्रिय है, कि विज्ञान है ?

विषय इन्द्रिय मन तो हेतु हो नहीं सकते क्योंकि ये ज्ञान के हेतु है और इनके होने पर ज्ञान हो ऐसा कोई नियम नहीं है। अतः ये हेतु व्यभिचारी हो जाते हैं। अब यदि अप्रतिबुद्ध शक्ति वाले हेतु को ही हेतु मानते हैं इसलिये व्यभिचार संभव नहीं है किन्तु मीमांसकों का यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि जब हेतुओं से होने वाले ज्ञान रूप कार्य हम देख ही नहीं सकते हैं, तो उन हेतुओं की अप्रतिबुद्ध शक्ति का ज्ञान हमें कैसे हो सकता है ?

5) मीमांसक कहते हैं कि बिजली के चमकने पर अन्तिम क्षण का कार्य हमें देखने में नहीं आता है यह हम जानते हैं कि यह कार्य का उत्पादक होता है। जैनाचार्य मीमांसक के इस कथन का खण्डन करते हुये कहते हैं जहाँ सजातीय कार्य को उत्पन्न करने की बात हो तो वहाँ ऐसा ज्ञान संभव है क्योंकि पूर्व क्षण से उत्तर क्षण की उत्पत्ति अवश्य होती है। अन्यथा उसकी परम्परा अवस्तु रूप हो जायेगी, किन्तु विजातीय कार्य को उत्पन्न करने की बात है वहाँ इस प्रकार ज्ञान होना संभव नहीं है, क्योंकि विजातीय कार्य के अभाव में भी उसके हेतु रह सकते हैं।

6) विषय, इन्द्रिय और मन का ज्ञान को उत्पन्न करना एक विजातीय कार्य है क्योंकि ये चेतन नहीं हैं, ज्ञान चेतन है। अतः ज्ञान के विषय में अप्रतिहत (अबाधित) शक्ति के धनी कैसे हो सकते हैं ? व्यभिचार की संभावना होने से ज्ञान के विषय में विषय, इन्द्रिय हेतु, मन आदि नहीं हो सकते हैं क्योंकि ज्ञान के

बोध न होने पर उसके विषय का बोध नहीं हो सकता है, ज्ञान भी नहीं हो सकता है क्योंकि परोक्ष ज्ञानवादी मीमांसकों के लिये विज्ञान स्वयं हेतु ही असिद्ध है और असिद्ध हेतु नहीं हो सकता।

7) आत्मज्ञान के लिए विषय, इन्द्रिय, मन, ज्ञान आदि हेतु नहीं हो सकते हैं क्योंकि वे असिद्ध और व्यभिचारी है।

8) ज्ञान का अनुमान करने के लिये यदि कोई हेतु मान लिया जाये तो विज्ञान और उस हेतु के अविनाभाव संबंध होना जरूरी है क्योंकि उस अविनाभाव संबंध के बिना उस हेतु से परोक्ष बुद्धि का अनुमान नहीं हो सकता है और ज्ञान के परोक्ष होने पर उस ज्ञान के हेतु के साथ अविनाभावी संबंध जानना संभव नहीं हैं।

**निष्कर्ष** - अनुमान से ज्ञान का परिज्ञान मानने वाले मीमांसक को ज्ञान के लिये प्रत्यक्ष मानना होगा। क्योंकि आत्मा में व्यवहारात्मक चेष्टायें ज्ञान के द्वारा होती है, ऐसा जब तक वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानेगा, तब तक वह दूसरे में व्यवहारादि चेष्टाओं को देखकर उनके द्वारा दूसरे में बुद्धि का अनुमान कैसे कर सकता है ?

9) आत्मा जब प्रत्यक्ष माना जाता है तो उनकी क्रिया ज्ञान को परोक्ष कैसे हो सकता है ? जैसे दीपक स्वयं प्रकाशवान है तो उसकी आभा परोक्ष कैसे हो सकती है ? यदि ज्ञान को सर्वदा अनुमेय माना जायेगा तो यह प्रतीति नहीं हो सकती है कि ज्ञान स्व अनुभव विशिष्ट से ही उत्पन्न होता है इसलिये ज्ञान को परोक्ष न मानकर स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्ष मानना ही उचित है।

जैन और मीमांसकों के समस्त तर्कों के पठन करने के बाद जब पाठक निष्पक्ष होकर उनके वजन का मूल्यांकन करता है तो वह स्वयं यह कह उठता है कि ज्ञान परोक्ष नहीं प्रत्यक्ष होता है।



## निर्विकल्प ज्ञानवाद

बौद्धों की तरह जैनदर्शन भी ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। किन्तु एक विभिन्नता इस बात में आ जाती है कि ज्ञान सविकल्प और निर्विकल्प दो रूप में है। बौद्धदर्शन के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और सविकल्पक ज्ञान अनुमान प्रमाण होता है, क्योंकि बौद्धदर्शन में दो ही प्रमाण मान्य है प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष स्वलक्षण को ग्रहण करता है अनुमान सामान्य लक्षण प्रमाण को ग्रहण करता है, यह बौद्ध दर्शन का रहस्य है। बौद्धदर्शन कहता है कि निर्विकल्पक ज्ञान से सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। शब्द संसर्ग के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसके माध्यम से किसी प्रत्यक्ष रूप से कोई भी पदार्थ ग्रहण करना संभव नहीं होता है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण शब्द संसर्ग से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि स्वलक्षण क्षणिक है जब ज्ञान करने के बाद उस शब्द का जब तक प्रयोग करते हैं तब तक स्वलक्षण (पदार्थ) नष्ट हो जाते हैं। इसलिये प्रत्यक्ष शब्द से विशिष्ट अर्थ को ग्रहण नहीं करता है फिर यह कैसे कहा जा सकता है? कि प्रत्यक्ष सविकल्पक होता है।

2) अर्थ में शब्दों का रहना संभव नहीं है इस मुख्य तर्क के पीछे आधार देते हुये बौद्ध कहते हैं - शब्द और अर्थ का तादात्म्य संबंध नहीं है। ऐसी स्थिति में अर्थ से उत्पन्न होने वाला ज्ञान में ज्ञान को उत्पन्न करने वाले शब्द का संसर्ग कैसे हो सकता है? जो ज्ञान अर्थ से संसृष्ट (उत्पन्न) हुये शब्द को वाचक रूप से ग्रहण करता है वही सविकल्पक है।

3) बौद्ध मत के सामने प्रत्यक्ष निर्विकल्प मानने पर लोक व्यवहार संचालन की समस्या जब खड़ी की गयी, तब बौद्धों ने लोक-व्यवहार संचालन की समस्या का हल करने के लिये अपने तर्क देते हुये कहा - कि निर्विकल्पक ज्ञान से सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति होती है इसी से लोकव्यवहार की व्यवस्था

का संचालन चल सकता है। प्रत्यक्ष कल्पना रहित है फिर भी वह सजातीय विजातीय पदार्थों से भिन्न अग्नि आदि को विषय करता हुआ उत्पन्न होता है।

4) निर्विकल्प प्रत्यक्ष के बाद होने वाले विकल्प परम्परा से वस्तु से असम्बद्ध होने के कारण इनमें कोई विसंवाद नहीं होता है फिर भी यह प्रमाण नहीं है क्योंकि ये विकल्प दो प्रकार के होते हैं। दृश्य और एकत्व अध्यवसाय इसलिये जानी हुई वस्तु को ही जानते हैं। विकल्प में कोई नयी वस्तु नहीं रहती है ज्ञाता भ्रमवश प्रत्यक्ष के विषय दृश्य को और विकल्प के साथ विषय विकल्प को एक मान बैठता है इसलिये विकल्प प्रमाण नहीं हो सकता है।

5) सविकल्प ज्ञान को बौद्धों द्वारा अप्रमाण मानने पर अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता है इस उत्पन्न हुयी समस्या का समाधान करने का प्रयास करते हुये बौद्ध मत वाले कहते हैं कि प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने पर जिस अंश में वह सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करता है वही अंश गृहीत कहलाता है जिस अंश में भ्रान्ति होने पर सविकल्पत्व ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता है वह अंश गृहीत होने पर अगृहीत करता है उस अंश में वर्तमान समारोप को दूर करने की प्रवृत्ति होती है अतः अनुमान प्रमाण होता है किन्तु एक खास बात है कि प्रत्यक्ष के बाद होने वाला सविकल्प ज्ञान प्रमाण नहीं क्योंकि वह समारोप को दूर करने में समर्थ नहीं है।

6) स्वलक्षण रूप वस्तु का अनुभव होने पर उसका निश्चय क्यों नहीं होता? इसका उत्तर देते हुये बौद्ध तर्क देते हैं कि निश्चय की उत्पत्ति के लिये अन्य कारणों की आवश्यकता होती है मात्र अनुभव से निश्चय नहीं है उसके लिये अभ्यास की, पटुता की, और अर्थत्व की आवश्यकता होती है। अतः सविकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं है निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण है।

बौद्धों के निर्विकल्प प्रमाण पर विचार करने वाले चिंतक बहुत सक्रिय हो जाते हैं वे सहमत नहीं हो पाते हैं कि निर्विकल्प ज्ञान को प्रमाण माना जाए। निर्विकल्प ज्ञान के विरोध में भारतीय दर्शनकारों ने तीखे तर्कों की बौछार की है। वे तर्क निम्न हैं -

1. कुछ बौद्ध दार्शनिक ही निर्विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हुये उसके लक्षण अभ्रान्त शब्द के ग्रहण नहीं करते है वे सिर्फ कल्पनारहित ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं किन्तु धर्मकीर्ति कल्पनारहित अभ्रान्तज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। जैनाचार्य अकलंकदेव ने दिग्नाग की तीखी आलोचना करते हुये कहा कि प्रत्यक्ष सर्वतः कल्पना से रहित है या कथञ्चित्। यदि सर्वथा कल्पना से रहित है तो यह भी एक कल्पना है कि प्रमाण ज्ञान सर्वथा कल्पनारहित हैं और यदि इस कल्पना से रहित नहीं है तो फिर यह कहना गलत होगा कि प्रमाण ज्ञान सर्वथा कल्पना रहित है। प्रमाण ज्ञान को कथञ्चित् कल्पनारहित मानने पर बौद्धमत में अनेकांत मत का प्रवेश हो जाता है। इसलिये ऐसा मानने में भी बौद्धों पर आपत्ति हो जाती है।

2. कल्पना का लक्षण अभिलापवती प्रतीति इस बौद्धमत की भी आलोचना जैनाचार्य विद्यानंदजी एवं प्रभाचंदजी ने की। उन्होंने कहा -

क) बौद्ध, निर्विकल्पक दर्शन निश्चयात्मक नहीं मानते हैं, क्योंकि निश्चय भी कल्पना ही है, ऐसी स्थिति में वह प्रमाण नहीं हो सकता है।

ख) अर्थ का निश्चय करना ही प्रमाण का स्वरूप है।

ग) निर्विकल्पक ज्ञान संभव नहीं है फिर उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान व्यवहार में उपयोगी नहीं है। तथा बौद्ध स्वयं स्वीकार करते हैं कि व्यवहार के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है।

घ) निर्विकल्पक ज्ञान व्यवहार का साधक नहीं है क्योंकि वह अपना निश्चय नहीं कर पाता और अर्थ का निश्चय कर पाता।

3.) बौद्धों का कहना है कि निर्विकल्पक ज्ञान अपने से भिन्न एक सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करता है इसलिये वह प्रवर्तक होता है और प्रवर्तक होने से प्रमाण होता है। इस मध्यवर्ती बौद्ध के तर्क का खण्डन निम्न तर्कों के आधार पर हो जाता है।

क) यह केवल श्रद्धामात्र का विषय है कि निर्विकल्प से सविकल्प की उत्पत्ति

मानने पर अचेतन सन्निकर्ष और निर्विकल्पक में कोई भेद नहीं रहता है, जबकि निर्विकल्पक चेतन है और सन्निकर्ष अचेतन है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष चेतन नहीं हो सकता है। जो स्वयं उपदर्शक होता है उसे चेतन कहा जाता है।

ख) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वप्न में भी दूसरे की अपेक्षा किये बिना अपने स्वरूप को प्रदर्शित नहीं कर सकता है। इसलिये वह चेतन नहीं हो सकता है।

ग) यदि सन्निकर्ष से निर्विकल्पक ज्ञान का भेद मानना चाहते हैं तो उसे निश्चयात्मक मानना होगा और निर्विकल्पक को निश्चयात्मक मानने पर सन्निकर्ष और निर्विकल्पक ज्ञान भिन्न सिद्ध नहीं होगा।

4. बौद्ध कहते हैं कि मैं देखता हूँ इस प्रकार के विकल्प को उत्पन्न करना ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का व्यापार है, इसलिये वह निर्व्यापार नहीं हैं, इस कथन का खण्डन करने के लिये जैन तर्क देते हैं -

क) फिर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक मानना होगा क्योंकि बौद्ध मत में व्यापार को व्यापारवान् से अभिन्न माना जाता है।

ख) व्यापार, व्यापारवान् का कार्य है। अतः उससे भिन्न है इस प्रकार बौद्धों के कहने का कथन सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि व्यापारवान् का व्यापार नहीं कहा जा सकता है यदि वह कार्य है तो, पिता का व्यापार पुत्र नहीं होता। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वयं निश्चयात्मक है तो उससे उत्पन्न होने वाले विकल्प में निश्चयात्मक कैसे हो सकती हैं ?

ग) यदि विकल्प को ज्ञान रूप माना जाए तो वह निश्चयात्मक होता है तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी ज्ञानरूप है अतः उसे भी निश्चयात्मक होना चाहिये। दोनों के ज्ञानरूप होने पर ही जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष साक्षात् रूप से स्वयं अर्थ का ग्रहण करने में प्रवृत्ति करता है तो वह अर्थ का निश्चित नहीं करता है और निर्विकल्पक से उत्पन्न होने वाले विकल्प अर्थ का निश्चय करते हैं यह तो वही कहावत हुई तलवार तीक्ष्ण नहीं हैं उसका म्यान तीक्ष्ण है।

5) निर्विकल्पक ज्ञान से विकल्पवान् की उत्पादक सामग्री विलक्षण है इसलिये विकल्पक निश्चयात्मक है यह कहना भी ठीक नहीं है यह बात तो जब सिद्ध होगी, जब निर्विकल्पक और सविकल्पक में भेद सिद्ध हो जाये और निर्विकल्पक और सविकल्पक में भेद को स्वीकार किया जाता है तो बौद्धों के बुद्धि और चेतन अलग-अलग हो जायेंगे और सांख्यमत का खण्डन नहीं हो पायेगा।

6) यदि निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान का स्वरूप अलग-अलग अनुभव में आए तो एक-दूसरे का अध्यारोप करके एकत्वाध्यवसाय करना उचित है किन्तु सविकल्पक और निर्विकल्पक का बोध कभी किसी को नहीं होता है।

7) निर्विकल्पक और सविकल्पक का एकत्वाध्यवसाय कौन करेगा ? दोनों में से कोई एक अथवा तीसरा। यदि इन्हीं दोनों में से कोई एक ज्ञान दोनों का एकत्व का निश्चय करता है तो वह सविकल्पक है या निर्विकल्पक। निर्विकल्पक से तो यह काम हो नहीं सकता क्योंकि वह विचारक नहीं है सविकल्पक है तो वह नहीं कर सकता क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है। यदि निर्विकल्पक ज्ञान का विषय सविकल्पक ज्ञान हो जायेगा तो सविकल्पक ज्ञान स्वलक्षण को विषय करेगा। इसलिये स्वपर का ज्ञान कराने वाला ही सब व्यवहारों का मूल है यदि निर्विकल्पक ज्ञान को स्वपर का नाम देना चाहो तो हमें कोई आपत्ति नहीं क्योंकि नामभेद होने से अर्थभेद नहीं हो जाता है।

8) निर्विकल्पक ज्ञान विकल्प को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? उसकी पद्धति क्या है ? क्योंकि निर्विकल्पकपने का और विकल्प को उत्पन्न करने की सामर्थ्य का परस्पर में विरोध है विकल्पवासनासे विकल्प उत्पन्न यदि माना जाए तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की आवश्यकता ही समाप्त हो जाती है।

9) अज्ञातार्थ विकल्प को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? तो बौद्धों के इस कथन पर जैन कहते हैं अनिश्चयात्मक निर्विकल्पक विकल्प को कैसे उत्पन्न कर सकता है ?

10) बौद्ध कहते हैं कि अनुभूति मात्र से निर्विकल्पक सविकल्पक को उत्पन्न कर सकता है इस बौद्धमत के कथन को बाधा देते हुये जैनाचार्य कहते हैं कि नीलादि पदार्थों में विकल्प को उत्पन्न करता है तो क्षणिकत्व में भी विकल्प उत्पन्न क्यों नहीं होता है, यह क्षणिक है, ऐसा भी विकल्प होना चाहिये।

11) बौद्धों का कहना है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विकल्पवासना को सबुद्ध करता है और उसकी विकल्प वासना से विषय में वह सविकल्प ज्ञान को उत्पन्न करता है और क्षणिकत्व के विषय में विकल्पवासना को प्रबुद्ध नहीं करता है अतः वह सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता इस कथन पर जैनाचार्य कहते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान अनुभव मात्र से ही विकल्प वासना का प्रबोधक होता है तो वह नीलादि में विकल्पवासना को प्रबुद्ध करता है वैसे ही उसे क्षणिकत्व आदि में भी विकल्पवासना को प्रबुद्ध करता है वैसे ही उसे क्षणिकत्व आदि में भी विकल्पवासना को प्रबुद्ध करना ही चाहिये क्योंकि अनुभूतिमात्र दोनों में समान है।

12) बौद्ध मत अभ्यास, प्रकरण बुद्धि पाटव और अर्थत्व जिस विषय में होती है उसी विषय में निर्विकल्पक विकल्पवासना का प्रबोधक होता है क्षणिक पदार्थ में ये चीजें पायी नहीं जाती है इसलिये उस क्षणिक पदार्थ में विकल्पवासना का प्रबोधक नहीं होता है।

### जैनाचार्यों का खण्डनात्मक तर्क -

क) अभ्यास का स्वरूप क्या है ? बार-बार दर्शन होना अथवा बहुत बार विकल्प होना। बार-बार दर्शन होने में बाधा है। जैसे नीलादि के विषय में अभ्यास होता है, वैसे क्षणिक आदि के विषय में भी अभ्यास होगा। यदि बहुत बार विकल्प करना अभ्यास का मतलब है तो क्षणिकत्वादि के दर्शन में उस अभ्यास का अभाव क्यों होता है ?

यदि कहते हैं कि निर्विकल्पक विषय विकल्पवासना का प्रबोधक नहीं है



तो अन्योन्याश्रय दोष आ जायेगा। और बहुत बार विकल्प को उत्पन्न करने रूप अभ्यास के अभाव की सिद्धि होगी और अभ्यास के अभाव सिद्ध होने पर क्षणिकत्व के विषय में निर्विकल्पक दर्शन विकल्पवासना का प्रबोधक नहीं होगा।

ख) प्रकरण की बात भी ठीक सिद्ध नहीं होगी क्योंकि क्षणिक और अक्षणिक का विचार करते समय क्षणिक का प्रकरण है ही।

ग) बुद्धि पाटव से तात्पर्य - नीलादि में दर्शन का विकल्प उत्पन्न करना अथवा स्पष्टतर अनुभव का होना पहले पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष आता है क्योंकि क्षणिकादि के विषय में निर्विकल्पक दर्शन विकल्पवासना का प्रबोधक नहीं है दूसरे पक्ष में अभाव दोष आता है।

घ) अर्थत्व से क्या तात्पर्य है ? अभिलाषा का होना या जिज्ञासा का होना। पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अनभिलाषित वस्तु में भी विकल्पवासना का प्रबोध देखा जाता है जैसे सांप से बचना, काँटे से भी बचना, फिर भी पैर में काँटा लगने पर विकल्प उत्पन्न होता है, दूसरे पक्ष में भी तो क्षणिकत्व में भी विकल्पवासना के प्रबोध का संग आ जाता है।

**निष्कर्ष** - अभ्यास आदि के न होने से निर्विकल्पक दर्शन क्षणिकत्व के विषय में विकल्पवासना से प्रबुद्ध नहीं करता है ऐसा मानना उचित नहीं हो सकता है।

13) बौद्ध दर्शन अभ्यासादि सापेक्ष अथवा निरपेक्ष दर्शन का उत्पादक नहीं मानता है विकल्प तो शब्द और अर्थ विकल्पवासना से उत्पन्न होता है। वह शब्दार्थ वासना रूप विकल्प पूर्व वासना से उत्पन्न होता है। इस तरह से विकल्प और वासना के सन्तान अनादि रहै और यह परम्परा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की परम्परा से भिन्न है अतः निर्विकल्पक दर्शन से विजातीय विकल्प की उत्पत्ति होना हमें इष्ट नहीं है। यह बौद्ध मत का कथन आलोचक जैनाचार्यों को संगत नहीं लगा इसलिये उन्होंने तर्क दिया की निर्विकल्पक दर्शन विकल्प को उत्पन्न नहीं करता है ऐसा बौद्धदर्शन में क्यों कहा गया -

यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता।

जिस विषय में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक बुद्धि को उत्पन्न करता है उसी विषय में वह प्रमाण है। उक्त कथन से इस मान्यता में विरोध आता है।

अतः जब सविकल्पक बुद्धि को उत्पन्न करने पर ही निर्विकल्पक का प्रामाण्य अभीष्ट है तो सविकल्पक को प्रमाण क्यों नहीं मान लेते। क्योंकि वह संवादक है और अर्थ के ज्ञान कराने में साधकतम है और अनिश्चित अर्थ का निश्चयात्मक है ज्ञाता उसी की अपेक्षा करता है, इसलिये ये सब बातें निर्विकल्पक में नहीं है अतः निर्विकल्पक ज्ञान सन्निकर्ष की तरह प्रमाण नहीं हो जाता है।

14) गृहीतग्राही होने से सविकल्पक को अप्रमाण नहीं माना जा सकता है क्योंकि ऐसा मानने पर अनुमान भी अप्रमाण सिद्ध होता है। कारण व्याप्ति ज्ञान और योगिप्रत्यक्ष से गृहीत अर्थ को अनुमान ग्रहण करता है, क्षणिकत्व सिद्ध करने वाले बौद्ध के ऐसी स्थिति में अनुमान प्रमाण रूप कैसे सिद्ध होगा ? सब पदार्थों को क्षणिक मानने वाले मत में निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण रूप सिद्ध नहीं होता है, इसी तरह बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी ज्ञान रूप तो है किन्तु प्रमाण रूप नहीं माना जा सकता।



## साकार ज्ञानवाद

भारतीय दर्शनों में बौद्ध दर्शन की ज्ञान प्रक्रिया सभी दर्शनों से विलक्षण ही है। इससे सौत्रान्तिक वादी बौद्ध अपना साकार ज्ञानवाद का चिंतन एक अलग ही प्रकार से प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना यह ठीक ही है कि ज्ञान, अर्थ का ग्राहक होता है और ज्ञान को साकार मानना आवश्यक होता है, क्योंकि आकारों को जब ज्ञान ग्रहण करता है तभी कोई ज्ञान की क्रिया पूरी होती है जब तक आकार ग्रहण करता है तब तक ज्ञान की प्रक्रिया अधूरी रहती है, अपनी बात को सिद्ध करने के लिये सौत्रान्तिक बौद्ध अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं, उन तर्कों में कुछ



निम्न है - 1. (योगाचार) वे कहते हैं कि पदार्थ संबद्ध अर्थ का ग्राहक है अथवा असंबद्ध अर्थ का। 1. असंबद्ध अर्थ का ग्राहक तो नहीं हो सकता, क्योंकि असंबद्ध रूप से पदार्थों का ज्ञान होने लगे तो सभी पदार्थों का ज्ञान हो जायेगा। यदि संबद्ध रूप से अर्थ का ज्ञान होने लगे तो ज्ञान और अर्थ का संबंध कौन-सा होगा, क्योंकि संबंध दो प्रकार के माने गये हैं, तादात्म्य और तदुत्पत्ति। दो ही संबंध है अब यदि तादात्म्य संबंध माने तो विज्ञान अद्वैतवादी हो जायेगा क्योंकि मात्र ज्ञान ही ज्ञान रहेगा और दूसरा कुछ नहीं, और यदि तदुत्पत्ति संबंध माने तो एक साथ कार्य-कारण भाव नहीं होता है समान समयवर्ती दो पदार्थ में कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता है यदि ज्ञान और अर्थ को भिन्न-भिन्न समयवर्ती माना जाए तो अर्थ के नष्ट हो जाने पर बिना आकार के अर्थग्रहण कैसे हो सकता है ?

2. प्रत्येक पदार्थ तो क्षणिक है अतः पदार्थ पहले क्षण में उत्पन्न होता है दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है किन्तु ऐसा होने से कारणभूत अर्थ का कार्यभूत ज्ञान के होने पर अभाव हो जाता है।

**समाधान -** बौद्धों ने इसका समाधान देते हुये कहा है कि जिस क्षण किसी वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियाँ सम्पर्क में आती है उस क्षण वह वस्तु अतीत के गर्भ में चली जाती है केवल उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान शेष रह जाता है, प्रत्यक्ष हुये पदार्थ के नील या पीत आकार चित्त में अंकित हो जाते हैं, उन आकारों को ही ज्ञान जानता है। पदार्थ को ज्ञान नहीं जानता। इसीलिये ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है यह बात अलग है ज्ञान तो पदार्थ के आकार से ही उत्पन्न होता है। जो ज्ञान जिसका ग्राहक होता है वह ज्ञान उसका आकार हो जाता है, जैसे स्वरूप का ग्राहक ज्ञान स्वरूप के आकार होता है वैसे नीलादि पदार्थ के ग्राहक का ज्ञान नीलादि पदार्थ के आकार हो जाता है जो जिसके आकार नहीं होता है वह उसका ग्राहक नहीं होता है। जैसे सफेद वस्तु का ज्ञान नील का ग्राहक नहीं होता है क्योंकि वह उसका ग्राहक नहीं हुआ।

5. ज्ञान अर्थ का ग्राहक होता है इसलिये उसे अर्थाकार मानना चाहिये यदि

ज्ञान को निराकार माना जायेगा तो उसके स्वरूप का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो यह पीला-नीला है इत्यादि आकार से ही उसकी प्रतीति होती है।

6. इन आकारों के अभाव में ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? निराकार मानने पर ज्ञानों में परस्पर भेद करना कठिन हो जायेगा, ज्ञानों का भेद, आकार के आधार पर ही होता है।

7. प्रत्येक ज्ञान का विषय नियत होता है वही अर्थाकारता इस ज्ञान की प्रक्रिया में साधकतम होती है, अतः वह प्रमाण है।

8. यदि ज्ञान को साकार नहीं माना जायेगा तो अर्थक्रियार्थी ज्ञाता पुरुष से उनका ज्ञान सभी पदार्थों में समान हो जायेगा।

**निष्कर्ष -** अर्थाकारता को छोड़कर कोई ज्ञान को अर्थ के साथ संबद्ध नहीं करता है। अतः ज्ञान की अर्थाकारता ही प्रमाण है और इस प्रकार से ज्ञान को साकार मानना चाहिये यह बौद्ध मत के तर्कों के आधार पर कुछ समय के लिये यह बात उचित-सी लगती है।

बौद्ध मत के उपर्युक्त सभी तर्कों को ध्यान में रखकर जब साकार ज्ञानवाद की समीक्षा की जाती है, तो इस वाद की आलोचना करने वाले मनीषी दार्शनिक के तर्क कभी विचारणीय हो जाते हैं और वे अपने तीखे और ठोस तर्कों से साकार ज्ञानवाद का खण्डन करते हुये अपने तर्करूप निम्न कथन देते हैं -

1. यद्यपि ज्ञान संबद्ध अर्थ का ही ग्राहक है किन्तु ज्ञान और अर्थ में तदुत्पत्ति संभव नहीं है बल्कि योग्यता लक्षण संबंध है क्योंकि ज्ञान समकालीन अथवा भिन्नकालीन अर्थ को ग्रहण करता है। अतः भिन्नकाल में ग्राहक ग्राह्य भाव कैसे बन सकता है ? यह असंभव-सा लगता है।

अतः स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन बौद्धों के निर्विकल्प ज्ञान को स्वीकार नहीं करता है इसलिये प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप सविकल्पज्ञान का अनुभव बालक से वृद्ध तक को होता है उसी को जैनदर्शन निराकर सिद्ध करता है।

2. सब ज्ञान अपने आकार को ही जानते हैं बल्कि अपने से भिन्न पदार्थ से अभिमुख होकर ही पदार्थों को जानते है यह लौकिक प्रतीति है और लोक व्यवहार का उल्लंघन करने से पदार्थ की व्यवस्था नहीं बन सकती है।

3. प्रत्यक्ष से तो प्रत्येक पुरुष को आकार रहित ज्ञान का ही अनुभव होता है न कि दर्पण की तरह साकार ज्ञान का। इसलिए जिसके द्वारा आपसे भिन्न जाना जाता है वह उसके अतदाकार रूप से जाना जाता है जैसे - स्तम्भ की जड़ता का ज्ञान, जड़रूप होकर नहीं जानता है ज्ञान अपने से भिन्न नीलादि पदार्थों को जानता है।

4. यदि ज्ञान को साकार माना जायेगा तो आपका साकारता से आशय क्या है ? ज्ञान का स्वसंविद् होना अथवा उसका वैशिद् आदि स्वभाव अथवा यह नील है इस प्रकार अर्थाकार का उल्लेख अथवा अर्थ के आकार को धारण करना।

5. प्रथम तीन विकल्पों में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि ज्ञान में तीनों बातें होती है, ज्ञान का अर्थ के आकार को धारण करना यह असंगत है।

#### उपरोक्त तर्क में आने वाली बाधाएँ -

अ) नीलादि आकार ज्ञान में संक्रान्त (परिणमित/एकमेक) नहीं होता है क्योंकि वह जड़ का ही धर्म है।

ब) जो जड़ का धर्म होता है वह ज्ञान में संक्रान्त नहीं होता है जैसे जड़ता नीलादि आकार जड़ का ही धर्म है। सत्त्व जड़ का धर्म नहीं है किन्तु सत्त्व तो चेतनात्मक होता है।

5. ज्ञान यदि साकार है तो अर्थ के साथ ज्ञान पूरी तरह से सारूप्य है या एकदेश रूप से ? यदि पूरी तरह से तो क्योंकि पदार्थ प्रमेय होता है प्रमाण नहीं किन्तु ऐसा युक्त नहीं है।

प्रथम पक्ष की बाधाएँ (सौरूप्य को सर्वदेश मानने पर बाधाएँ)

प्रमाण का अंतर्मुख रूप से और पदार्थ का बाह्य रूप से अलग-अलग प्रतिभासित होता है।

#### ब) एकदेश सारूप्य मानने पर बाधाएँ -

चेतन ज्ञान के द्वारा अर्थ की जड़ता की प्रतीति नहीं हो सकेगी ज्ञान जड़कार नहीं होता है और जिसके आकार नहीं उसका ग्रहण नहीं हो सकता है। ज्ञान चेतन है, उसका आकार नहीं। जड़ता की प्रतीति न होने से अर्थ जड़ है यह बोध कैसे होगा ? और जड़ता की प्रतीति न होने पर नीलता की भी प्रतीति नहीं होगी इस तरह नीलता और जड़ता में भी भेद हो जायेगा।

6. बुद्ध दूसरे (पदार्थों) के रागादि को जानते हैं उस समय तदाकार हो जाते हैं तो फिर वह वीतरागी कैसे रह पायेंगे ? यदि रागादि आकारों को ग्रहण करने पर भी यह मेरे रागादि है यह बुद्धि नहीं होती है तो उसमें कोई दोष नहीं आता है वे रागादि दूसरे कैसे हैं ? इस पर यदि संभवतः बौद्ध कहते हैं कि दूसरे को इस प्रकार की बुद्धि होती है कि यह रागादि मेरे हैं तो बुद्ध इस बुद्धि का अनुकरण करते हैं तो दोष तो वही आयेगा।

यदि यह कहे कि अतदाकार रूप से जड़ता को जानता है तो अतदाकार ज्ञान ही नीलादि आकार को जान लेगा फिर ज्ञान को साकार मानने का आग्रह क्यों किया जाता है ?

7. सभी पदार्थों के साथ एकदेश से सारूप्य होने पर भी वे नीलादि पदार्थ आकार से विलक्षण होते हैं। अतः उनका ग्रहण नहीं होता है तो समान आकार वाले उन सब पदार्थों के ग्रहण का प्रसंग आ जायेगा।

8. आकार ज्ञान से भिन्न है कि अभिन्न। यदि भिन्न है तो ज्ञान निराकार हो जायेगा और अभिन्न है तो ज्ञान और आकार एक हो जायेगा। कथञ्चित् आप भिन्न मानते हैं तो जैन मत आ जायेगा। इसलिये ज्ञान का अर्थाकार होना घटित नहीं होता है।

9. ज्ञान का आकार उसका स्व पर प्रकाशत्व है न कि नीलादिपना। नीलादि तो अर्थ का धर्म है इसलिये स्वपर प्रकाशत्व रूप आकार के साथ ज्ञान तो प्रत्यक्ष होता ही है क्योंकि मैं नील को जानता हूँ यह प्रतीति सभी को होती है।

10. ज्ञान प्रतिनियत अर्थ का ग्राहक होता है उसका यह स्वरूप ही एक को दूसरे ज्ञान से भिन्न करता है स्वगत धर्म की अपेक्षा से ही पदार्थों में भेद करना युक्त है न कि अन्य धर्म की अपेक्षा से।

11. यदि ज्ञान को निराकार माना जायेगा तो ज्ञान सभी पदार्थों का ग्राहक हो जायेगा और उनमें अन्तर नहीं रहेगा। ऐसी आपत्ति ठीक नहीं है, दीपक की तरह ज्ञान स्वकारणों से सामने विद्यमान अर्थ में ही नियमित रहता है जैसे - दीपक घटादि के आकार को धारण करके उनका प्रकाशक नहीं होता। फिर भी वह घर के अंदर रहने वाले प्रतिनियत वस्तुओं का ही प्रकाशन करता है क्योंकि उसकी शक्ति नियत है।

इसलिये ज्ञान अर्थाकार न होने पर प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण तथा प्रतिनियत सामर्थ्य रखने के कारण प्रतिनियत अर्थ को ही जानता है सब को नहीं जानता।

**निष्कर्ष** - इस साकार ज्ञानवाद के विपक्षों में दिये गये तर्कों का मूल्यांकन करने के बाद यह प्रतीत होता है कि साकार ज्ञानवाद पूर्णरूपेण सिद्ध नहीं होता है।



## ज्ञानान्तर ज्ञानवेदवाद (नैयायिक)

नैयायिक मत की सबसे बड़ी धारणा है कि ज्ञान स्व संवेदित नहीं होता, ज्ञान को तो दूसरा ज्ञान ही जानता है। जैसे - घट आदि प्रमेय होने से ज्ञान के द्वारा ही जाने जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान भी ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, ज्ञान भी प्रमेय है, अगर कोई आपत्ति देता है कि ईश्वर का ज्ञान प्रमेय है तो उस ज्ञान को ईश्वर दूसरे ज्ञान से नहीं जानता है तो ये आपका कथन दोषयुक्त हो जायेगा किन्तु ऐसा कहना ठीक है कि ईश्वर का ज्ञान हम लोगों के ज्ञान से विशिष्ट होता है इसलिये ईश्वर के लिये दूसरे ज्ञान की जरूरत नहीं पड़ती है ईश्वर का ज्ञान तो स्वयं ही

अपने को जान लेता है किन्तु हमारे ज्ञान को जानने के लिये दूसरे ज्ञान की जरूरत पड़ती है। तर्क -

**तर्क 1** - अर्थज्ञान और उस पदार्थ का ज्ञान क्रम से उत्पन्न होता है तो उसी क्रम से उसका अनुभव होना चाहिये नैयायिक इस तर्क का खण्डन करते हुये कहते हैं कि जिस तरीके से सौ कमलों के पत्तों को एक साथ रखकर छेद किया जाए तो उसमें समयभेद का अंतर तो रहता है पर प्रतीत नहीं होता है।

**तर्क 2** - अर्थज्ञान का प्रत्यक्ष दूसरे ज्ञान से होता है और दूसरे ज्ञान का तीसरे ज्ञान से, तीसरे ज्ञान का चौथे ज्ञान से, इस प्रकार मानने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होता है परन्तु वे कहते हैं तीसरे ज्ञान से काम चल जाता है चौथे ज्ञान की आवश्यकता नहीं, इसलिये अनवस्था दोष नहीं आयेगा।

**तर्क 3** - अर्थ की जिज्ञासा होने पर अर्थ का ज्ञान होता है और ज्ञान की जिज्ञासा होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है यह बात प्रतीति सिद्ध है।

**तर्क 4** - नैयायिक मत वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का खण्डन करने के लिये दो विकल्प प्रस्तुत करते हैं कि स्वसंवेदन से मतलब क्या है ? स्व के द्वारा संवेदन अथवा स्वकीय संवेदन। यदि स्वकीय द्वारा संवेदन को स्वसंवेदन कहते हैं तो नैयायिक कहते हैं हमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि कितनी भी तीखी तलवार अपने आप को नहीं काट सकती, कितनी भी प्रशिक्षित नट अपने कंधे पर नहीं चढ़ सकता है उसी प्रकार ज्ञान स्वयं को नहीं जान सकता है। अतः ज्ञान स्वप्रकाशक है क्योंकि वह अर्थ का प्रकाशक है यह कथन उचित नहीं है।

नैयायिकों के इस प्रकार सम्पूर्ण तर्कों को सुनने के बाद उनकी आलोचना बिन्दुवार की गई, क्योंकि उनका मत भारतीय दर्शनों के स भी विद्वानों को मान्य नहीं है।

1. ईश्वर का ज्ञान स्वसंवेदित है यह बात किस आधार पर कही जाती है किसी युक्ति के आधार पर या यूँ ही। यदि यूँ ही कही जाती है तो नैयायिकों की बात में कोई दम नहीं है।

2. यदि युक्ति के आधार पर ईश्वर के ज्ञान को स्वसंवेदित मानते हो तो वह युक्ति क्या है ? ईश्वर का ज्ञान अर्थ को ग्रहण करता है इसलिये वह स्वसंवेदित है अथवा ज्ञान होने से वह स्वसंवेदित है ये दोनों बातें हम लोगों के ज्ञान में भी पायी जाती है इसलिये ईश्वर का ज्ञान और हमारा ज्ञान स्वसंवेदित हो जायेगा।

ईश्वर का ज्ञान और हमारा ज्ञान स्वसंवेदित हो जायेगा।

3. ईश्वर का ज्ञान हमारे ज्ञान से विशिष्ट है इसलिये वह ज्ञान स्वसंवेदित है हमारा ज्ञान नहीं। इस नैयायिक मत का खण्डन करते हुये नैयायिक कहते हैं तब तो ज्ञानपना और अर्थग्रहणपना भी ईश्वर में पाया जाता है हमारे ज्ञान में उनका भी निषेध करना पड़ेगा।

4. अर्थग्रहणपना और ज्ञानपना दोनों के अभाव में ज्ञान, ज्ञान नहीं रह सकता जैसे सूर्य के प्रकाश में तो यह अर्थग्रहणपने का स्वभाव हो और दीपक के प्रकाश में न हो तो यह नहीं हो सकता है क्योंकि दीपक और सूर्य स्व-पर प्रकाशक है इसलिये ज्ञानपना और अर्थग्रहणपने में स्वसंवेदनत्व के बिना ज्ञान नहीं हो सकता है।

5. यदि ईश्वर ज्ञान की तरह हम लोगों का ज्ञान भी स्वपर व्यवसायी हो जायेगा तो हम भी ईश्वर की तरह सर्वपदार्थ के ज्ञाता हो जायेंगे, नैयायिक मत के इस आपत्ति कथन का खण्डन करते हुये कहा है कि दीपक-सूर्य की तरह ज्ञान स्वपर प्रकाशक होता है किन्तु वह अपने योग्य, नियत, देशवर्ती पदार्थों में ही प्रकाशन करता है उसी तरह हम लोगों का ज्ञान भी ईश्वर, ज्ञान की तरह स्वपर व्यवसायी तो है किन्तु अपने योग्य पदार्थों को ही जानता है।

6. सब ज्ञानों की योग्यता अपने-अपने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार होती है।

**निष्कर्ष** - स्वसंवेदित्व के आधार पर ईश्वर ज्ञान और हमारे ज्ञान में कोई अंतर नहीं है।

7. अर्थ संवेदन और आत्मसंवेदन एक ही समय में होता है कमलपत्रों का उदाहरण मूर्तिक है वह अमूर्तिक में लागू नहीं होगा।

8. अपना और विषय का प्रकाशन एक समय करने में कोई विरोध नहीं आता है।

9. स्वात्म में क्रिया का विरोध नहीं आता है क्योंकि क्रिया के अर्थ चार रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं।

अ) उत्पत्ति रूप क्रिया

ब) हलन-चलन रूप क्रिया

स) धातु अर्थ रूप क्रिया

द) जानने की क्रिया

यदि उत्पत्ति रूप क्रिया का विरोध है तो होने दो हम नहीं मानते हैं कि ज्ञान स्वयं को उत्पन्न करता है उसकी उत्पत्ति तो अपनी सामग्री से होती है।

10. हलन-चलन रूप क्रिया तो द्रव्य में होती है धात्वर्थक्रिया सकर्मक-अकर्मक दो रूप में होती है जैसे वृक्ष खड़ा है यह अकर्मक क्रिया है ज्ञान प्रकाशित होता है यहाँ भी प्रतीति होने से कोई विरोध नहीं होना चाहिये।

11. ज्ञान अपने को जानता है यह सकर्मक क्रिया स्वात्म में नहीं हो सकती क्योंकि उसका कर्ता और कर्म अलग होते हैं यह नैयायिक का कथन विरोध को प्राप्त होता है क्योंकि आत्मा अपना घात करता है और दीपक अपना प्रकाशन करता है इसी तरह जानने रूप क्रिया में स्वात्मा में विरोध नहीं आता है अन्यथा दीपक का भी स्वपर प्रकाशत्व रूप अपने स्वभाव के साथ विरोध मानना पड़ेगा।

12. ज्ञान स्व पर व्यवसायी होकर जन्म लेता है।

13. पूर्वज्ञान को यदि उत्तर ज्ञान जानता है तो ज्ञान को उत्पन्न करने में ही मन लगा रहेगा। अतः न कभी पदार्थ का ज्ञान हो पायेगा न अर्थज्ञान का। क्योंकि अर्थज्ञान, ज्ञान के अप्रत्यक्ष होने से अर्थ का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।

अन्यथा दूसरे मनुष्य के ज्ञान से भी अर्थ का प्रत्यक्ष हो जायेगा क्योंकि हमारे लिए जैसा अपना ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है वैसे ही दूसरे का ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं है।

14. अर्थ की जिज्ञासा होने पर अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान की जिज्ञासा होने पर ज्ञान का ज्ञान उत्पन्न होता है इसलिये अनवस्था दोष नहीं आता है। अतः नैयायिक का यह कथन जैन के गले नहीं उतरता क्योंकि जिज्ञासा से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि घोड़े के अभाव में घोड़े को देखने की इच्छा होने पर घोड़े के दर्शन नहीं होते और सामने गाय के आ जाने पर गाय के देखने की इच्छा न होने पर भी गाय के दर्शन हो जाते हैं तथा ज्ञान को ज्ञानान्तर के द्वारा ग्राह्य मानने पर ज्ञान अज्ञान हो जायेगा जैसे एक दीपक को जानने के लिये दूसरे दीपक की जरूरत की तरह।

**निष्कर्ष** - इसलिये ज्ञान को दूसरे ज्ञान से जानने या ज्ञानान्तर वैद्य न मानकर स्वसंविदित मानना ही उचित है।



## जैन न्याय की संक्षिप्त रूपरेखा

पदार्थों का सम्यग्ज्ञान चार प्रकार से होता है -

1. लक्षण
2. प्रमाण
3. नय
4. निक्षेप

न्याय तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र अथवा किसी भी विचारधारा की वह कसौटी है जिससे खरे और खोटेपन (सम्यक् और मिथ्या) का ज्ञान होता है। न्याय, दर्शन का प्रवेशद्वार है, अध्यात्म विचारधारा को पुष्ट करने वाला है, न्याय के आधार पर तत्त्व निर्णय होता है, एवं न्याय बिना तत्त्वनिर्णय की कल्पना व्यर्थ है तथा जीवन व्यवहार में अनुकूलता होने पर निमग्न होकर अपनी यथार्थता को नहीं भूलना तथा संकट के समय में वस्तु स्वरूप विचार का सहनशील बनना न्याय के द्वारा ही संभव होता है।

न्याय शब्द की व्युत्पत्ति अर्थ और परिभाषा - नि अयति इति न्यायः (नियन्ति अनेन - नि + इ + घञ)।- वामन आप्टे

**भारतीय दर्शनों में जैन न्याय की विशेषतायें -**  
**सभी दर्शनों में जैन न्याय की विशेषतायें -**

सभी दर्शन तर्क, विद्या और न्याय का अनुसरण करते हैं किन्तु जैन न्याय स्यात् शब्द का प्रयोग करने के कारण अनेकान्त और स्याद्वाद की विशिष्ट शैली के कारण अपनी पहचान अलग से बना लेता है।

**जैन न्यायके 4 स्तम्भ -**

1. लक्षण - लक्षण की परिभाषा, भेद, दोष।
2. प्रमाण - स्वरूप शब्दार्थ लक्षण जैनाचार्यों के अनुसार। अन्य भारतीय दर्शनों के विद्वानों के अनुसार प्रमाण स्वरूप के चारबिन्दु।

1. अविसंवादकत्व की प्रायक स्थिति।
2. तदाकारता प्रमाण नहीं।
3. सामग्री प्रमाण नहीं।
4. इन्द्रिय व्यापार प्रमाण नहीं।

प्रमाण में सम्यग्ज्ञान प्रमाण की सिद्धि, सम्यग्ज्ञान प्रमाण क्यों? इस लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष नहीं आते हैं। (न्यायदीपिका के अनुसार सिद्ध करना चाहिये)।



## आलौकिकार्थ ख्याति विपर्यवाद की समीक्षा

विपर्यय के सन्दर्भ में कोई भी ख्याति ठीक से नहीं होती। अतः आलौकिकार्थ ख्याति को ही स्वीकार करना चाहिये। आलौकिक का अर्थ है - अन्तः अथवा बाह्य रूप से जिसका निरूपण नहीं हो सके, उसे आलौकिकार्थ ख्याति कहते हैं। इस आलौकिक अर्थ ख्याति वाद से असहमत जैनाचार्य आलौकिक के संभावित



आशयों से बाधा प्रस्तुत करते हुये कहते हैं—

क्र. आलौकिक के संभावित आशय	उनमे बाधा
1. अर्थ का अन्य रूप होना	इसमें सत्य रूप प्रतिभासित होता है। वैसा ही असत्य रूप प्रतिभासित होता है। यदि अन्यरूप प्रतिभासित होने का नाम आलौकिक है तो विपरीत अर्थ का नाम ही आलौकिक होगा।
2. अन्य क्रिया करना	यदि अन्य अर्थ का काम करने लगे तो उसके लिये अन्य कारणों की परिकल्पना करना व्यर्थ हो जायेगा। और एक ही कारण सब कार्य करने लगेंगे।
3. अन्य कारण से उत्पन्न होना	यह पक्ष असंगत है।
4. बिना कारण से उत्पन्न होना	तो यह विपरीत अर्थ ख्याति ही होगी, आलौकिक ख्याति नहीं, क्योंकि बिना कारण के कार्य सत् रूप होता है असत् रूप यदि सत् रूप में तो कार्य नित्य हो जायेगा। यदि असत् रूप है तो चाँदी है, यह कथन रूप प्रतीति क्यों होती है? इस प्रकार विधि रूप प्रतीति नहीं होगी

निष्कर्ष— अतः आलौकिकार्थ ख्यातिवाद श्रेयस्कर नहीं है।



## अनिर्वचनीयार्थ अख्यातिवाद विपर्यय की समीक्षा

ब्रह्म द्वैतवादी विपर्ययज्ञान में अनिर्वचनीयार्थ ख्याति मानते हैं। उनकी अवधारणा है कि सीप आदि में जो चाँदी का आकार प्रतिभासमान होता है, वह सत्य है या असत्य है या उभय रूप है। वह सत्य तो हो नहीं सकता। यदि वहाँ

चाँदी होती तो उत्तर काल में बाधक ज्ञान हो सकता था और चाँदी का ज्ञान अभ्रन्त कहा जाता। चाँदी का प्रतिभास असत्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश के फूल के समान असत्य का प्रतिभास नहीं होता। उभय रूप भी नहीं हो सकता है, क्योंकि उपरोक्त दोनों दोष आते हैं अतः ज्ञान के द्वारा दर्श पदार्थ को सत्य, असत्य और उभय रूप कह पाना शक्य नहीं। अतः इसे अनिर्वचनीय अख्याति कहते हैं।

जैनाचार्य अद्वैत वेदान्त के इस मत को अनुचित मानते हैं। उनका कहना है— जो सत्य है उसका सत्य रूप ग्रहण एवं कथन होता ही है, और जो असत्य है उसका असत्य रूप से ग्रहण एवं कथन होता है। यदि ऐसा न हो तो घट पट आदि उनका अभाव भी अनिर्वचनीय हो जायेगा। यदि विपरीत ज्ञान को अनिर्वचनीय माना जायेगा तो यह चाँदी है, इस प्रकार का ज्ञान और शब्द व्यवहार नहीं हो सकता है।

पहले सत् रूप से देखी हुई चाँदी देश आदि का व्यवधान होने पर भी समानता के कारण सीप में प्रतिभासित होती है। अतः उसका यह वह है इस रूप से उल्लेख होना ही वचनीयता है। अतः अनिर्वचनीय ख्याति का पक्ष ही बिल्कुल गलत है।



## प्रसिद्धार्थ ख्यातिवाद विपर्यय का विचार विमर्श

सांख्य मत विपर्यय ज्ञान में प्रसिद्ध अर्थ ख्याति वाद को मानता है। इस वाद की मूल अवधारण है कि विपर्यय ज्ञान में प्रतीति सिद्ध अर्थ का ही प्रतिभास होता है। विपर्यय ज्ञान में प्रतिभासित अर्थ प्रतीति से अबाधित होता है। अतः जो अर्थ प्रतीति सिद्ध हो उसका विचार ही अयुक्त है।

उनका तर्क है। वह प्रतीति विपर्यय ज्ञान के विषय में भी है। मरीचि का मे जल का प्रतिभास होने पर ज्ञाता जब वहाँ पहुंचता है तब वहा जल नहीं मिलता

है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जिस समयजल का ज्ञान हुआ उस समय जल है ही यदि बाद में उस अर्थ का अभाव होने पर प्रतिभास में अभाव माना जायेगा तो ऐसी स्थिति में बिजली का भी अपने ज्ञान काल में अभाव सिद्ध होगा क्योंकि बिजली एक बार चमक कर लुप्त हो जाती है। इसलिये यह प्रसिद्धार्थ ख्याति ही सिद्ध है जैन आचार्य सांख्य के इस मत को विचार शून्य मानते हैं। क्यों कि ऐसा मानने से भ्रान्त अभ्रान्त प्रतीति का व्यवहार नष्ट हो जाएगा भ्रान्त अभ्रान्त की व्यवस्था बिना हेतु के कैसे बन पाएगी ऐसा मानने से स्वेच्छाचार कहलाएगा। यदि मरिची का प्रतिभास में जल था और बाद में जल नहीं रहा तो उसके चिन्ह जमीन का गीला होना अवश्य ही मिलना चाहिए क्यों कि बिजली की तरह जल का भी तत्काल निरन्वय विनाश नहीं देखा जाता निष्कर्ष अतः प्रसिद्ध अर्थख्याति वाद का पक्ष अनुचित सिद्ध होता है।



### आत्मख्याति विपर्ययवाद की समीक्षा

बौद्धदर्शन शाखा के योगाचार के अनुयायी विपरीत ज्ञान को आत्मख्याति कहते हैं। उनकी अवधारणा है कि सीप में यह चाँदी है। इस प्रकार चाँदी का प्रतिभास होता है किन्तु बाहर में स्थित चाँदी का यह प्रतिभास बाधक प्रत्यय के कारण ठीक नहीं है। जिस रूप से प्रतिभासित होता है वैसा ही अर्थ है ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि भ्रान्तता ऐसा मानने से भ्रान्तता का अभाव हो जाता है। अतः यह चाँदी है यह ज्ञान का ही आकार है। जो अनादि कालीन अविद्या-वासना के कारण बाहर में प्रतिभासित होता है। इसलिये इसे आत्मख्याति कहना ही उचित है।

जैनाचार्य योगाचार इस मत को उचित नहीं मानते हैं। अतः जब यह सिद्ध हो जाये कि ज्ञान अपने स्वरूप में निष्ठ होता है अर्थ का आकार धारण करता है, तभी आत्मख्याति सिद्ध हो सकती है किन्तु यह सिद्ध नहीं है। जैनाचार्य अपने तर्क देते हुये कहते हैं कि

**तर्क (1)** - यदि सभी ज्ञान अपने आकार मात्र को ग्रहण करते हैं तो उनमें भ्रान्त अभ्रान्त का भेद बाध्य-बाधकपना नहीं बनता, क्योंकि वैसी स्थिति में कोई भी ज्ञान व्यभिचारी नहीं हो सकता है।

**तर्क (2)** - यदि यह चाँदी है, यह ज्ञानाकार ही है, नहीं कि यह चाँदी इस प्रकार बहिर्निष्ठ है, क्योंकि जिसका बहिर्निष्ठ रूप संवेदन नहीं होता, जैसे ज्ञान के स्वरूप का किन्तु आत्मख्याति के मत में चाँदी वगैरह का आकार स्वात्म रूप से माना जाता है अतः उसका बहिस्थिति रूप से बोध नहीं होना चाहिये।

**तर्क (3)** - यदि अनादि वासना के कारण स्वात्मनिष्ठ ज्ञानाकार का प्रतिभास बाह्यस्थित रूप से हुआ मानते हैं तब तो यह विपरीत ख्याति हुई, ज्ञान से अभिन्न चाँदी आदि के आकार का विपरीत रूप निश्चय होता है।

**तर्क (4)** - यदि बाह्य पदार्थों को ज्ञान का विषय न माना जाये तो 'सीप में यह चाँदी है' इस प्रकार यह ज्ञान होता है। जैसे यह सीप है इस प्रकार यह ज्ञान क्यों नहीं होता है। कोई नियामक तो है नहीं, यदि अविद्या वासना नियामक है तो अमुक देश आदि में ही वैसा ज्ञान क्यों होता है? संभवतः कोई कहे यदि अविद्या का महत्व है किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर असत् अर्थ ख्यातिवाद की ही सिद्धि होती है।

**निष्कर्ष** - अतः आत्मख्यातिवाद समुचित नहीं है।



### असत् ख्याति विपर्यय और एक चिंतन

बौद्धदर्शन की सौत्रांतिक और माध्यमिक शाखा असत् ख्याति वाद को मानती है। उसकी मूल अवधारणा है कि 'सीप में यह चाँदी है' इस प्रकार जो प्रतिभासित होता है, वह ज्ञान का धर्म है, अथवा अर्थ का वह ज्ञान का धर्म तो नहीं हो सकता है क्योंकि उसकी प्रतीति अहंकार के रूप में न होकर बाहर में 'यह' इस रूप से होती है।

तथा अर्थ का धर्म भी नहीं हो सकता है क्योंकि उसके द्वारा जो होना चाहिये वह नहीं होता है। तथा उत्तर काल में होने वाले बाधक ज्ञान से उस वस्तु रूप का अर्थ का धर्म बाधित हो जाता है।

**निष्कर्ष** – अतः सीप में ‘यह चाँदी है’ असत् ख्याति रूप सिद्ध होता है।

जैनाचार्यों ने असत् ख्यातवाद को अविचारित कहते हुये इस वाद के खंडन करने हेतु तर्क प्रस्तुत किये वे निम्न है—

**तर्क (1)** – आकाश के फूल की तरह असत् का प्रतिभास होना संभव नहीं है। क्योंकि पदार्थों का प्रतिभास होना ही उनका अस्तित्व है।

**तर्क (2)** – असत् ख्यातिवाद न अर्थ में वैचित्र्य मानते और ज्ञान में तो तब उस वैचित्र्य के निमित्त से जो अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ होती है वो कैसे हो सकेगी ?

**तर्क (3)** – यदि वे कहते है कि ऐसे ज्ञानों में अर्थ क्रिया नहीं देखी जाती तो जैनाचार्य कहते कि कौन सा अर्थक्रियाकारित्व ऐसे ज्ञानों में नहीं पाया जाता है, ज्ञान साध्य अर्थक्रियाकारित्व नहीं पाया जाता है अथवा ज्ञेय साध्य अर्थक्रियाकारित्व नहीं पाया जाता है।

**प्रथम पक्ष** – सिद्ध नहीं होता है क्योंकि ‘यह चाँदी है’ इस कथन से तो असत् की सिद्धि नहीं होती। हाँ! वह ज्ञान का धर्म नहीं है, यह आप कह सकते है, किन्तु सर्वथा असत् नहीं कह सकते है, क्योंकि एक वस्तु दूसरी वस्तु का काम नहीं कर सके, इससे तो असत् की सिद्धि नहीं होती है, अन्यथा घट पट का काम नहीं कर सकने पर घट भी असत् सिद्ध हो जायेगा।

**दूसरा पक्ष** – भी सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि मरीचिका में जल का ज्ञान होने पर जल से होने वाली अर्थ क्रिया जल पीने का इच्छा तो होती है। इस पर बौद्ध मतानुयायी पूँछ सकते हैं फिर ज्ञान को भ्रान्त क्यों कहा जाता है ? तो उस जल से स्नानादि क्रिया नहीं हो सकती है इसलिये उस भ्रान्त ज्ञान कहा जा सकता है।

**निष्कर्ष** – अतः असत् ख्यातिवाद सिद्ध नहीं होता है।



## भारतीय दर्शन विपर्यय ज्ञान की विभिन्न अवधारणायें

दर्शनों की दृष्टि में जहाँ प्रमाण प्रासांगिक होता हैं वही मिथ्या ज्ञान भी विचारणीय हैं मिथ्याज्ञान को तीन रूप में देखा जाता है 1. संशय/संदेह, 2. विपर्यय/विपरीतता 3. अनिश्चितता/अनध्यवसाय इनमें विपर्यय को लेकर कई दर्शनों ने अपनी-अपनी अवधारणायें अलग-अलग नाम से प्रस्तुत उनमें कुछ अवधारणायें निम्न है –

**1. विवेकख्याति**– प्रभाकर मीमांसक विपर्यय ज्ञान में विवेकख्याति को स्वीकार करते है उनकी अवधारणा है कि सीप में यह चाँदी है यह एक ज्ञान नहीं है किन्तु दो ज्ञान है एक प्रत्यक्ष दूसरा स्मरण ज्ञान। इसे ही स्मृति प्रमाण कहते है।

**2. अख्यातिवाद** – चार्वाक मत वाले विपर्यय ज्ञान को अख्याति के रूप मानते है, उनका कहना है सीप में यह चाँदी है, इस ज्ञान का विषय चाँदी तो नहीं है। इस ज्ञान में कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता इसलिये इसे अख्याति कहते है।

**3. असत्-ख्यातिवाद**– बौद्धदर्शन की सौत्रान्तिक माध्यमिक शाखा के अनुयायी विपर्ययज्ञान को असत्ख्याति बाद मानते है। उनके अनुसार ज्ञान में असत् का ही प्रतिभास होता है।

**4. आत्मख्यातिवाद**– बौद्ध दर्शन की योगाचार शाखा के अनुयायी विपरीत ज्ञान को आत्मख्याति कहते है। जो अविद्या वासना के बल से बाहर में प्रतिभासित होता है वह ज्ञान का ही आकार है। इसे ही आत्मख्याति कहते हैं।

**5. प्रसिद्धार्थ ख्यातिवाद**– सांख्यदर्शन विपर्ययज्ञान प्रसिद्धार्थ ख्याति को मानता है। उनका कहना है कि विपर्यय ज्ञान में प्रसिद्धार्थ का ही प्रतिभास होता है। इसलिये यह प्रसिद्धार्थ ख्याति है।

**6. अनिर्वचनीय ख्यातिवाद** – ब्रह्मा अद्वैतवाद विपर्ययज्ञान में

अनिर्वचनीयार्थ ख्याति मानते है। यह सीप में चाँदी है इसे वचनों से कहना शक्य नहीं है।

**7. आलौकिक ख्यातिवाद** – कुछ दार्शनिक विपर्यय ज्ञान में आलौकिकार्थ ख्याति के रूप में मानते है अन्य ख्यातियों ठीक नहीं लगती इसलिये आलौकिक ख्याति अर्थ मानना चाहिये।

**8. विपरीतार्थ ख्यातिवाद** – विपरीत ख्याति न मानने वाले दार्शनिकों का कहना है कि इस तरह कैसे विचार करने पर तो विपरीत ख्याति भी नहीं टिकती।



## विवेक ख्याति विपर्यय की समीक्षा

मीमांसक दर्शन मीमांसक प्रभाकर के अनुयायी विपर्ययज्ञान में विवेक ख्याति को स्वीकार करते हैं। उनकी अवधारणा है कि सीप में चाँदी है, ऐसा यह ज्ञान एक नहीं है अपितु दो ज्ञान है। इनमें एक ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है दूसरा स्मरण ज्ञान है, क्योंकि इन दोनों ज्ञानों के कारण भी भिन्न-भिन्न है और विषय भी भिन्न-भिन्न है। यह एक प्रत्यक्ष ज्ञान है उसका कारण इन्द्रिय है और चाँदी स्मरण ज्ञान उसका कारण संस्कार है। अतः भिन्न विषय तथा भिन्न कारण होने से यह चाँदी है। यह दो ज्ञान ही मानना चाहिये। इस तरह अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये प्रभाकर मीमांसक कुछ इस प्रकार तर्क देते हैं

**तर्क 1** - अतीत चाँदी का भी दोष की वजह से अतीत रूप प्रतिभास नहीं होता है क्योंकि सामने वर्तमान सीप में पहले देखी हुई चाँदी में समानता होने से उस समानता का अवलम्बन पाकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान सीप और चाँदी में भेद ग्रहण होने से चाँदी के स्मरण में कारण होता है किन्तु मैं चाँदी का स्मरण करता हूँ, उस काल में यह बोध नहीं होता इसलिये इसे स्मृति प्रमोष अथवा विवेकाख्याति कहते हैं।

**तर्क 2** - जो स्मृति प्रमोष को विपरीतख्याति मानते हैं उनके मत में बाह्य चाँदी के न होने पर भी चाँदी का ज्ञान चाँदी की प्रतीति करा देता है। वैसे ही सभी ज्ञान बाह्य अर्थों के अभाव में भी उनका ज्ञान करा देंगे। अतः इसे स्मृति प्रमोष ही मानना चाहिये।

जैन पक्ष स्मृति प्रमोष को अमान्य करते हुये जैनाचार्यों ने सीप में यह चाँदी है, ये दो ज्ञान नहीं है, अपितु एक ही ज्ञान है। अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये अपनेतर्क दिये हैं, वे निम्न हैं –

**तर्क 1.** - चक्षु आदि सामग्री विषय भी एक है। सीप का टूकड़ों को काच का कामिल आदि दोषों के कारण चक्षु चाँदी के रूप में दिखलाई देता है दोषों का यह काम है कि वे अविद्यमान वस्तु का ज्ञान करा देते हैं।

**तर्क 2** - यह चाँदी है इस ज्ञान में सीप किस रूप में काम करती अकारण रूप से (ब) विषय रूप से अ पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि यह चाँदी है इस ज्ञान का कारण यदि सीप है तो जहाँ वास्तव में चाँदी है वहाँ जैसे चक्षु आदि के न होने पर चाँदी का ज्ञान नहीं हो सकता है वैसे ही सीप के न होने पर चाँदी का ज्ञान नहीं हो सकते हैं क्योंकि आप सीप को चाँदी ज्ञान का कारण मानते है।

**तर्क 3** - अब यदि ब पक्ष को स्वीकार करते हैं तो यह सिद्ध होता है कि इस ज्ञान का सीप है अतीत चाँदी नहीं। अतः यह चाँदी का ज्ञान एक ही है और विषय भी एक ही है।

**तर्क 4** - यह शब्द भी परोवर्ती है चाँदी शब्द चाँदी को ही बतलाता है न कि किसी विषयान्तर को। अन्यथा वास्तविक चाँदी के ज्ञान में भी विषयान्तर का प्रसंग आयेगा क्योंकि चाँदी के स्वरूप मात्र का प्रतिभास दोनों ज्ञान में समान रूप से है।

**तर्क 5** - यदि सीप में यह चाँदी है इस ज्ञान का विषय यह देखी हुई चाँदी है तो वहाँ चाँदी का प्रतिभास अतीत रूप से ही होना चाहिये और उस अवस्था

में ज्ञाता की प्रवृत्ति उस चाँदी में नहीं होना चाहिये क्योंकि अतीत वस्तु को प्राप्त करना शक्य नहीं है। अतः इस ज्ञान का विषय सीप ही है।

**तर्क 6-** भेद की प्रतीति न होने मात्र प्रवृत्ति में कारण नहीं हो सकता है। ज्ञाता की प्रवृत्ति का कारण सामने चाँदी का दिखाई देना है न कि भेद की प्रतीति न होना।

**तर्क 7-** मीमांसक का कहना है कि यद्यपि इस ज्ञान का विषय अतीत चाँदी है फिर भी चाँदी का यह ज्ञान सामने वर्तमान वास्तविक चाँदी के ज्ञान के समान ही होता है इसी से तो उसमें पुरुष की प्रवृत्ति होती है मीमांसक के इस कथन पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो यह ज्ञान वर्तमान वस्तु का ज्ञान नहीं कराता है इसलिये अतीत चाँदी का प्रतिभास कराने वाले ज्ञान के तुल्य ही हुआ अतः तुल्य होने से पुरोवर्ती वस्तु उसे प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये क्योंकि अतीत चाँदी के ज्ञान में ऐसा नहीं देखा जाता है। इस ज्ञान का विषय यद्यपि सीप है इसलिये विषयभेद नहीं माना जा सकता है।

**तर्क 8 -** अब यदि दो ज्ञान माने जाते हैं तो इन ज्ञान की उत्पत्ति क्रम से होती है अथवा युगपत् क्रम से तो हो नहीं सकते हैं क्यों कि यह तो इस प्रत्यक्ष ज्ञान से पहले चाँदी का स्मरण होता है अथवा बाद में प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यह इस प्रत्यक्ष ज्ञान के होने से पहले चाँदी स्मरण का बीज जो संस्कार है उस संस्कार का प्रबोधक कोई कारण ही नहीं है जिससे पहले देखी चाँदी का स्मरण हो जाये और पूर्व संस्कार के प्रवृद्ध होने पर स्मृति होने से ज्ञान के युगपत् होने का प्रसंग आयेगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि 'यह' इस प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात् होने वाला चाँदी का ज्ञान चक्षु व्यापार रुक जाने पर भी उत्पन्न हुआ कहलाया और 'यह चाँदी है' यह ज्ञान आँखबंद करने के बाद भी होना चाहिये इस तरह यह क्रम ज्ञान प्रतीति विरुद्ध है।

और ज्ञान की उत्पत्ति युगपत् हो नहीं सकती, क्योंकि मीमांसक मत में इन्द्रिय ज्ञान को युगपत् स्वीकार नहीं किया जाता है।

**तर्क-** स्मृति प्रमोष किसे कहते हैं ?

क्र.	मीमांसक स्वरूप मत	बाधा
1.	स्मृति के नाश होने का नाम स्मृति प्रमोष है।	जब धूम को देखकर अग्निको जान लेते हैं तब धूम और अग्नि का संबंध नष्ट हो जाता है यह भी स्मृति प्रमोष कहा जायेगा।
<b>अथवा</b>		
2.	प्रत्यक्ष के स्मृति के एकत्व अध्यवसाय का नाम स्मृति-प्रमोष है।	विषय और स्वरूप दोनों के एकत्व अध्यवसाय बनने में बाधा आती है।
<b>अथवा</b>		
3.	स्मृति का प्रत्यक्ष रूप होने का नाम स्मृतिप्रमोष है।	क्योंकि जब स्मृति रूप को छोड़कर प्रत्यक्ष रूप हो जायेगी स्मृति रूप नहीं रहेगी तब उसे स्मृतिप्रमोष कैसे कहा जा सकता है?
<b>अथवा</b>		
4.	'वह इस अंश का अनुभव होना' स्मृतिप्रमोष है।	वह चाँदी इस ज्ञान को मीमांसक एक ही स्मरण ज्ञान मानते हैं यह शब्द का प्रमोष होने पर चाँदी का प्रमोष होगा।
<b>अथवा</b>		
5.	स्मृति के तिरोभाव का नाम स्मृतिप्रमोष है।	यह तिरोभाव ज्ञान के युगपत् सिद्ध होने पर ही संभव है। ज्ञान का युगपत् मीमांसकों को स्वीकार नहीं है।

**निष्कर्ष-** इस प्रकार की विपरीत ख्यात को विवेकाख्याति या स्मृति प्रमोष सिद्ध नहीं होता है।





## अख्यातिवाद विपर्यय की समीक्षा

चार्वाक दर्शन के अनुयायी विपरीतार्थ ख्याति के रूप में मानते हैं उनकी अवधारणा है कि सीप में 'यह चाँदी है' इस ज्ञान का विषय चाँदी नहीं है अन्यथा फिर इस ज्ञान को भ्रांत कैसे कहा जा सकता है?—'चाँदी का अभाव' भी इस ज्ञान का आलम्बन नहीं है क्योंकि चाँदी का अस्तित्व मानकर ही ज्ञान प्रवृत्त होता है।

इसलिये सीप भी इस ज्ञान आलम्बन नहीं है।

— कोई कहे कि चाँदी के रूप में सीप ही इस ज्ञान का आलम्बन है किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य का अन्य रूप से ग्रहण होना नहीं देखा जाता है क्या कहीं घट को पट रूप से ग्रहण होते देखा गया है ?

अतः इस ज्ञान में कुछ भी प्रतिभासमान नहीं होता इसलिये इसे अख्याति कहते हैं।

इस अख्यातिवाद विपर्यय की समीक्षा करते हुये चैनाचार्य उपर्युक्त संपुर्ण कथन को अविचारित घोषित करते हुये अपने निम्न तर्क देते हैं।

**तर्क 1** - यदि इस ज्ञान में कुछ भी प्रतिभासमान नहीं होता तो यह चाँदी है यह कथन कैसे किया जा सकता है ?

**तर्क 2** - क्या वस्तु-ख्याति के अभाव का नाम अख्याति है अथवा ईषत् अभाव का नाम अख्याति है। प्रथम में तो भ्रांति और सुप्तावस्था में कोई भेद नहीं रहेगा क्योंकि भ्रांति सुप्तावस्था से यही भेद होता है कि भ्रांति में एक ज्ञान

विशेष रूप होती है जबकि सुप्तावस्था में यह बात नहीं होती यदि भ्रांति को ज्ञान रूप नहीं माना जायेगा तो सुप्तावस्था और भ्रांति दोनों समान हो जायेंगे ईषत् ख्याति का क्या अभिप्राय है यदि जो अर्थ जिस रूप में अवस्थित है उसका उस रूप में प्रतिभास न होने का नाम अख्याति है तो वह विपरीतार्थ ख्याति हुई न कि अख्याति। अतः अख्याति पक्ष सिद्ध नहीं होता है।



## द्रव्यभाव इन्द्रियवाद की समीक्षा (जैन)

जैन दर्शन ने संसारी जीव के पहचान के चिन्ह को इन्द्रिय कहा है, जो इन्द्र के समान अपने विषय का महत्व रखती है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। संवेदना अनुभूति ग्रहण के माध्यम को माना है।

**इन्द्रिय के पाँच भेद हैं** - स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र इनमें से प्रत्येक इन्द्रिय के द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से दो-दो प्रकार है।

**द्रव्येन्द्रिय** - बाह्य और आभ्यंतर आकाशरूप परिणत पुद्गलों को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। जैसे - आँख रूप परिणत पुद्गल की सफेद बरौनी सफेद काला मंडल और कदम्ब गोलक आदि आभ्यंतर रचना है। वे सभी द्रव्येन्द्रिय निवृत्ति अर्थात् (रचना) और उपकरण (सुरक्षा साधन) को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

**भावेन्द्रिय** - लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष के बाद जो विषय ग्रहण करने की योग्यता उत्पन्न होती है उसे लब्धि कहते हैं। उसके निमित्त से जो आत्मा का जानने रूप विशेष परिणाम होता है, अथवा स्व और अर्थ को जानने रूप व्यापार को उपयोग कहते हैं। बिना व्यापार के स्पर्शनादि इन्द्रिय स्पर्शनादि को नहीं जान सकती।

उपयोग तो इन्द्रिय का कार्य है फिर उसे इन्द्रिय क्यों कहते हैं ? इस प्रकार आशंका होने पर जैनाचार्य कहते हैं कि कारण का धर्म कार्य में देखा जाता है जैसे - घटाकार ज्ञान को घट कहा जाता है। इन्द्र अर्थात् आत्मा के चिन्ह को इन्द्रिय कहते हैं। आत्मा तो सूक्ष्म है इन्द्रिय के द्वारा ही उसका अस्तित्व जाना जाता है इन्द्रिय शब्द का अर्थ उपयोग में मुख्यता घटित होता है क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग है अतः उपयोग को इन्द्रिय कहना उचित ही है। इन दोनों इन्द्रियों में द्रव्येन्द्रिय गौवा है क्योंकि द्रव्येन्द्रिय के व्यापार करने पर भी प्रकाशादि सहकारी कारणों के होतेहुये भी भावेन्द्रिय के बिना स्पर्शादि का ज्ञान नहीं हो सकता है।



## अर्थ और प्रकाश को ज्ञान का कारण मानने की समस्यायें

कुछ दार्शनिक मन और इन्द्रिय को ज्ञान उत्पत्ति का कारण मानते हैं, तो कुछ दार्शनिक अर्थ और प्रकाश को ज्ञान कारण मानते हैं। नैयायिक ज्ञान को पदार्थ का ज्ञान का कार्य मानते हैं, वे इसके पीछे जो तर्क देते हैं वे निम्न हैं -

1. ज्ञान अर्थ और प्रकाश का कार्य है क्योंकि उनके साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है वह उसका अर्थ माना जाता है।

2. अर्थ और प्रकाश के होते हुये भी यदि ज्ञान का कारण माने जाए तो क्या आपत्ति ?

3. संशय और विपर्यय ज्ञान अर्थ से ही उत्पन्न होता है इसलिए ज्ञान भी पदार्थ से उत्पन्न माना जा सकता है। उक्त नैयायिकों के तर्क का खंडन करते हुये जैनाचार्य क्रमशः तर्क देते हैं -

अ) ज्ञान का अर्थ और प्रकाश के साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है। इस विषय में उभय प्रसिद्ध दृष्टान्त उपरितव्य होता है। जिसे कामला रोग होता है उसे आकाश में बाल दिखाई देता है। जबकि कामलारोगी की आँखों की पलकों में बाल नहीं होती है। जब उसे आकाश में केशोन्दुक का ज्ञान नहीं होना चाहिये।

दूट के निमित्त पुरुष की भ्रान्ति भी देखी जाती है। अतः केशोन्दुक और दूट ज्ञान से व्यभिचार आता है। अतः अन्वय-व्यतिरेक रूप से पदार्थ ज्ञान का कारण नहीं बनता है।

ब) अर्थ और प्रकाश ज्ञान का कारण नहीं माना जा सकता है। यदि अर्थ प्रकाश को ज्ञान का कारण माना जायेगा तो वे चक्षु आदि के समान ज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं। ज्ञान अर्थ का कार्य नहीं है। यह बात प्रत्यक्ष से प्रतीत होती है। यदि यह प्रत्यक्ष से प्रतीत होती है या प्रत्यक्षान्तर से तो फिर इसमें विवाद नहीं होना चाहिये। प्रत्यक्ष तो इस बात को नहीं मानता है कि मैं अर्थ का

कार्य हूँ। यदि प्रत्यक्षान्तर पक्ष को माना जायेगा तो प्रत्यक्ष ज्ञानान्तर द्वितीय ज्ञान को ग्रहण नहीं करेगा। अतः ज्ञान अर्थ का कार्य है। यह वह नहीं जान सकता है।

स). ज्ञान अर्थ का कार्य यह बात प्रमान्तर से जानी जाती है तो वह प्रमान्तर ज्ञान को विषय करता है या अर्थ को अथवा ज्ञान और अर्थ दोनों को। यदि प्रारम्भ के दो विकल्पों में तो वह प्रमान्तर चूँकि एक ही अर्थ को विषय करता है। अतः वह नहीं जान सकता है कि अर्थ और ज्ञान में कार्य कारण भाव है। जैसे - कुम्भकार और घट में से किसी एक को ग्रहण करने वाला ज्ञान कुम्भकार और घट में वर्तमान कार्यकारण भाव को नहीं जानता है।

तीसरे विकल्प - ज्ञान और अर्थ दोनों को जानने वाले ज्ञान से भी ज्ञान अर्थ का कार्य है ऐसी प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि नैयायिकों ने अल्पज्ञों के इस प्रकार का ज्ञान नहीं माना है। नैयायिकों की मान्यता है कि ऐसा नहीं है कि ज्ञान को जानने वाला ज्ञान अर्थ को भी जानता है अथवा अर्थ को जानने वाला ज्ञान, ज्ञान को भी जानता है यदि यह मत नैयायिक स्वीकार करते हैं तो उन्हें पाँचवाँ प्रमाण मानना पड़ेगा। इस तरह अर्थ ज्ञान का कारण सिद्ध नहीं होता है।

द) नैयायिक दर्शन वाले पदार्थ को संशय और विपर्यय का कारण मानते हैं उनका यह कथन भी ठीक नहीं है। यदि संशय ज्ञान सामान्य अर्थ से उत्पन्न होता है तो संशय को अर्थ जन्य मानने पर विरोध आता है। क्योंकि जो सामने मौजूद होता है वह अर्थ होता है और जो मौजूद नहीं होता है वह अनर्थ होता है। यदि सामान्य अर्थ से संशय की उत्पत्ति होती है तो कमलारोगी को केशोन्दुक का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः सामान्य पदार्थ संशय का कारण नहीं है।

ई) विशेष पदार्थ का ज्ञान भी संशय का कारण नहीं है। यदि सामने स्थाणु पुरुष रूप विशेष पदार्थ विद्यमान होता है तो उसका ज्ञान अभ्यान्त कहलाता है।

फ) इन्द्रिय और मन में उत्पन्न होने वाले सुज्ञान में भी अर्थ को कारण मानने की कल्पना भी व्यर्थ है। अतः विशेष पदार्थ भी संशय आदि ज्ञान का जनक नहीं है।

ग) संशय आदि ज्ञान पदार्थ के अभाव में भी उत्पन्न होते हैं। तब अर्थ के अभाव में ज्ञान के अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है। जिससे ज्ञान को अर्थ का कार्य माना जाए।

ह) योगी ज्ञान पूर्व कालभावी पदार्थों और भूत काली पदार्थों को जानता है यदि पदार्थ ज्ञान का कारण होगा तो योगियों को ज्ञान नहीं हो सकेगा। वर्तमान भावी पदार्थ ज्ञान का कारण नहीं होते हुये भी यदि योगी के द्वारा जाने जाते हैं, तो हमारा ज्ञान भी ज्ञान के अकारण भूत पदार्थों को जान सकता है और यदि योगी ज्ञान वर्तमान और भावी पदार्थों को नहीं जानता है तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

इ) जो ज्ञान का कारण है अर्थ होता है वही ज्ञान के कारण जाना जाता है। ऐसा मानने वाले दार्शनिक अर्थ की उत्पद्य मान्यता को कैसे जान सकते हैं, क्योंकि पूर्व कालीभावी ज्ञान के समय अर्थ की उत्पद्य मान्यता नहीं है किन्तु उत्पद्य मान्यता है और उत्तरकालीन भावी ज्ञान के उत्पन्न है, उत्पद्य मान्यता नहीं है।

ज) जो ईश्वर के ज्ञान को नित्य मानते हैं, उसके मत से यही सिद्ध होता है कि ज्ञान अकारण भूत अर्थ को जानता है। उसी तरह हमारा ज्ञान भी जाने तो क्या हानि है? अतः अर्थ अन्वय-व्यतिरेक भी ज्ञान का कारण नहीं है। प्रकाश भी ज्ञान का कारण नहीं है।

कुछ मत वाले प्रकाश को ज्ञान का कारण मानते हैं किन्तु जिसकी आँख में अंजन वगैरह लगा है उन्हें और बिल्ली वगैरह को प्रकाश का अभाव होने पर ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है।



## भारतीय दर्शनों में सर्वज्ञत्व का चिंतन

मीमांसक दर्शन ईश्वर को तो मानता है किन्तु किसी सर्वज्ञ की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। वेद को अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण मानता है और वह कहता है कि वेद भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल के पदार्थों का सूक्ष्म

व्यवहित और विकृष्ट पदार्थों का सूक्ष्म व्यवहित और विकृष्ट पदार्थों का ज्ञान कराने में समर्थ है उनका कहना है कि सर्वज्ञ का कोई साधक प्रमाण नहीं है इसलिए सर्वज्ञ नहीं हैं वे अपने तर्क निम्न प्रकार देते हैं -

1. सर्वज्ञ का साधक कोई प्रमाण नहीं हो सकता है। पाँच प्रमाणों में किसी प्रमाण से सर्वज्ञ मानने से बाधा आ सकती है।

### क्र. इन प्रमाणों से सर्वज्ञ सिद्धि और बाधा

1. प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ मानने पर इस समय किसी भी सर्वज्ञ को नहीं देखते हैं।
2. अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ मानने पर सर्वज्ञ का अनुमान कोई वैसा हेतु नहीं दिखाई देता है जिसे देखकर अनुमान किया जा सके कि कोई सर्वज्ञ है।
3. आगम प्रमाण आगम जो भेद है उसमें कोई सर्वज्ञ का उल्लेख नहीं क्योंकि वेद का प्रमाण विषय तो यज्ञ-याज्ञ आदि है। 'स सर्वत्र स लोकवित-हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः' इस वाक्य से सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है क्योंकि यह वाक्य तो याज्ञ की प्रशंसा में कहे गये हैं। वेद अनादि है और सर्वज्ञ सादि है। इसलिये नित्य आगम भी सर्वज्ञ का साधन नहीं है। अनित्य आगम सर्वज्ञ रचित मानने पर परस्पर आश्रय दोष आता है और साधारण पुरुष द्वारा रचित मानने पर आगम सच्चा सिद्ध नहीं होता है।

4. उपमान प्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि में बाधा वर्तमान में सर्वज्ञ के समान किसी पुरुष को देखे तो उसकी उपमा की जा सकती है। किन्तु जगत में सर्वज्ञ के समान कोई नहीं है।
5. अर्थापत्ति प्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि में बाधा संसार में ऐसी कोई भी वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती है जो सर्वज्ञ के बिना न हो सके धर्मोपदेश भी सर्वज्ञ के बिना संभव है। बुद्ध या अरहंत ने जो धर्मोपदेश दिया वह अज्ञानवश दिया क्योंकि वे वेद के ज्ञाता नहीं थे।

**निष्कर्ष** - इन सभी प्रमाणों से सर्वज्ञ मानने पर बाधा को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि इन पाँचों प्रमाणों के सिवाय और कोई भी प्रमाण नहीं हैं। अतः मानना पड़ता है कि सर्वज्ञ नहीं हैं।

2. देशान्तर और कालान्तर के लोगों के प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि वर्तमान में जिस तरह के प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पदार्थ के जाना जाता है कालान्तर और देशान्तर के पदार्थों को भी इसी तरह से जाना जाता है अतः कोई भी प्रमाण प्रत्यक्ष आदि प्रमाण इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना नहीं हो सकता है। गृद्ध की दृष्टि, सूकर की श्रवण शक्ति, चींटी की गंध शक्ति से ज्ञान उन्हें हो जाता है। कात्यायन नाम के ऋषि को विलक्षण अनुमान का ज्ञान था। जैमिनी को वेदार्थ का विशेष ज्ञान था। इसलिये यह कहा जा सकता है कि देशान्तर और कालान्तर में भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण जो आज है वैसे उनके भी होंगे किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि गृद्ध आदि के इन्द्रिय सामग्री के बिना ज्ञान नहीं होता है। वे अपने नियत विषय को ही जान सकते हैं। अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान इनको भी नहीं हो सकता है। अतः कोई सर्वज्ञ नहीं है न अतीन्द्रियका ज्ञाता है।

3. लोक प्रसिद्ध इन्द्रिय प्रत्यक्ष से विलक्षण अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष नाम का कोई प्रमाण नहीं है। सभी पुरुष स्वभाव से ही सूक्ष्म परमाणु देशान्तरवर्ती सुमेरु पर्वत और कालान्तरवर्ती राम, रावण को देखने में असमर्थ है अतः सर्वज्ञ नहीं है।

### जैन आचार्य के तर्क -

जैन आचार्यों ने मीमांसकों के तर्क सुनने के बाद इनको तर्कों को विचार शून्य मानते हुये कहा कि इस तरह से सर्वज्ञ का निराकरण नहीं हो सकता है। उन्होंने कहा क्योंकि सर्वप्रथम तो सर्वज्ञसिद्धि का कोई बाधक प्रमाण नहीं हैं। इसी उद्देश्य से अपनी बात आगे बढ़ाते हुये जैनाचार्य निम्न तर्क देते हैं -

1. पाँचों प्रमाण सर्वज्ञ के अस्तित्व को नहीं बतलाते हैं अतः सर्वज्ञ के ज्ञापक का अभाव ही सर्वज्ञ का बाधक है यह कहना ही तो ठीक नहीं है किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस पर प्रश्न होता है कि सर्वज्ञ का ज्ञापक प्रमाण नहीं माना जाता है यह बात अपने आप अनुभव से कहते हैं या सबके अनुभव से। यदि आप अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं तो आपके तो दूसरे के मन की बात का तो पता नहीं तो बात क्या उनका विचारों के भी अभाव हो जायेगा? और यदि सबके अनुभव के आधार पर कहते हैं तो आपको यह ज्ञान कैसे हुआ? कि देशान्तर, कालान्तरवर्ती सब मनुष्यों को सर्वज्ञ बतलाने वाले किसी प्रमाण का पता नहीं था।

2. सर्वज्ञ ज्ञापक अनुलम्भ (अभाव) किसी प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है - प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और उपमान प्रमाण से तो सर्वज्ञ ज्ञापक अभाव की सिद्धि नहीं होती है। आगम प्रमाण शेष रहता है उससे भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि वेद तो यज्ञ-याज्ञ के विषय में ही प्रमाण माना जाता है।

3. सर्वज्ञ का बाधक प्रमाण कोई नहीं हैं फिर भी यदि कोई कहता है कि भूत, भविष्य और वर्तमान में कोई सर्वज्ञ नहीं हैं और तीनों लोको में कोई सर्वज्ञ

नहीं है तो आपने यह किस ज्ञान से जाना स्वयं से अथवा सब के अनुभव से यदि आप स्वयं से जानते हैं तो तीन लोक को जानने वाला ही सर्वज्ञ होता है। अतः आप ही सर्वज्ञ हो जायेंगे।

4. मीमांसक मानते हैं कि विशिष्ट पुरुषों को त्रिकालवर्ती और विप्रकृष्टि पदार्थों का ज्ञान हो सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि सकल पदार्थों को जानने की शक्ति आत्मा में है।

5. दूरवर्ती, कालान्तर, देशान्तर, सूक्ष्म पदार्थों का अनुमेय होता है अर्थात् अनुमान योग्य पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं इससे अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि होती है।

6. ज्ञानावरण आदि कर्मों के अभाव हो जाने से आत्मा के अज्ञान का अभाव हो जाता है और कर्म के अभाव में मोह अज्ञान समाप्त हो जाने से पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

7. सूक्ष्म आदि विषय भी किसी ना किसी ज्ञान की प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं यदि प्रत्यक्ष ना माने जाये तो अनुमान प्रमाण का नाश हो जायेगा क्योंकि सभी प्रमाणों के इस तरह दोष आ जायेगा। अतः अनुमान प्रमाण को मानने वाले मीमांसकों को अनुमेय होने से सूक्ष्म आदि पदार्थों को किसी प्रत्यक्ष आदि ज्ञान का विषय मानना ही चाहिये।



### उपमान स्वतंत्र प्रमाणवाद (न्यायदर्शन अनुसार)

न्याय दर्शन के विद्वानों ने मीमांसक दर्शन से कुछ विशेषता लिये हुये उपमान प्रमाण का स्वरूप निश्चित करने का प्रयास किया है और उपमान प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण सिद्ध करने के लिये अपना चिंतन अलग ही प्रकार से प्रस्तुत किया है।

### नैयायिक का उपमान स्वरूप -

क्र.	प्रमाण	अन्तरभूत नहीं होने का आधार
1.	प्रत्यक्ष प्रमाण	उपमान प्रत्यक्ष का फल नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष आदि के द्वारा मात्र आकार का ज्ञान होता है।
2.	अनुमान प्रमाण	अनुमान में अन्वय व्यतिरेक रूप सामग्री की आवश्यकता होती है उपमान में नहीं।
3.	आगम प्रमाण	गो सदृश्य वाक्य होता है इस वाक्य के स्मरण से उपमान होता है।

संज्ञा और संज्ञा वाले प्राणी का ज्ञान उपमान प्रमाण का फल है। अतः उपमान प्रमाण स्वतंत्र प्रमाण मानना ही होगा।

1) वृद्ध नैयायिकों ने उपमान का लक्षण कुछ अलग ही किया है। वे कहते हैं कोई नागरिक पुरुष गवय के स्वरूप से अनभिज्ञ है।

2) वह किसी जानकारी वनवासी से पूछता है कि गवय कैसा होता है? वह वनवासी कहता है कि जैसी गऊ होती है वैसा ही गवय होता है। यह वाक्य अप्रसिद्ध गवय की प्रसिद्ध गौ के साथ समानता बतलाते हुये अप्रसिद्ध पशु को गवय शब्द वाच्य ज्ञापित करता है। यह उपमान प्रमाण है।

नैयायिकों के सम्पूर्ण प्रयास उपमान को स्वतंत्र प्रमाण सिद्ध करने के लिये सार्थक सिद्ध नहीं हुये क्योंकि उनके इस विचार की आलोचना तीखें सुरों में जैनाचार्यों ने की और अपने गम्भीर तर्क प्रस्तुति किये। वे तर्क निम्न हैं -

1) नैयायिकों का उपमान लक्षण मीमांसकों के लक्षण से कोई विशेषता नहीं रखता है क्योंकि दोनों ने संज्ञा और संज्ञी के संबंध की साक्षात् प्रतिपत्ति के अंग को उपमान प्रमाण माना है। अतः मीमांसकों की तरह नैयायिक भी स्वतंत्र प्रमाण उपमान को सिद्ध नहीं कर सकते हैं इसमें वे ही सब दोष आते हैं जो मीमांसक के बाद समय में दिये गये थे।



2) नैयायिकों के द्वारा कल्पित अप्रसिद्ध गवय पिण्ड में इन्द्रियों से होने वाला प्रसिद्ध गौ पिण्ड के सादृश्य का ज्ञान संज्ञा-संज्ञी के संबंध की साक्षात् प्रतिपत्ति का अंग नहीं हो सकता है। यदि संज्ञा-संज्ञी के संबंध को प्रतिपत्ति का अंग मानते हैं तो दो विकल्प प्रस्तुत होते हैं -

अ) यदि अकेला ही प्रतिपत्ति का अंग है।

ब) संज्ञा-संज्ञी की स्मृति के सहायता की अपेक्षा करता है।

**संज्ञा-** संज्ञी को अकेला मानने पर सादृश्य का ज्ञान करा देगा कि यह गवय नाम का प्राणी है तो वह सादृश्य प्रतिपत्ति का ज्ञान गौ के सादृश्य है इसके ज्ञानकराने में उलझ जायेगा क्योंकि गौ के समान गवय होता है इस वाक्य के स्मरण कि सहायता से ही गौ के सादृश्य का ज्ञान यह प्रतिपत्ति कराता है कि यह गवय नाम का प्राणी है तो प्रत्यभिज्ञान के प्रसाद से ही संज्ञा-संज्ञी के संबंध की साक्षात् प्रतिपत्ति होती है। यह बात आपने स्वीकार कर ली क्योंकि गौ और गवय के सादृश्य का परामर्श करके प्रत्यभिज्ञान ही संज्ञा और संज्ञी के संबंध की प्रतिपत्ति में कारण होता है। अतः गौ के समान गवय होता है। इस वाक्य के स्मरण की सहायता से गवय का प्रत्यक्ष पहले देखी हुई गौ और वर्तमान में सामने मौजूद गवय की समानता को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान को उत्पन्न करता है। प्रत्यभिज्ञान के सिवाय अन्य कोई ज्ञान गौ और गवय के सादृश्य को विषय नहीं कर सकता है। अतः गौ और गवय के सादृश्य को विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान ही प्रतिपत्ति कराता है कि यह गवय नाम का प्राणी है।

संज्ञा और संज्ञी के संबंध की परम्परा प्रतिपत्ति में अंग है। वह उपमान है यह विकल्प भी खण्डित होता है क्योंकि संज्ञा और संज्ञी के संबंध को साक्षात् प्रतिपत्ति कराने वाले प्रत्यभिज्ञान का जनक होने से गौ सादृश्य ज्ञान आदि को उपचार से उपमान मानने में कोई आपत्ति नहीं होती है।

वृद्ध नैयायिकों के द्वारा निश्चित किया गया उपमान का लक्षण भी खण्डित

होता है क्योंकि वाक्य रूप प्रमाण तो आगम ही हो सकता है उपमान नहीं। वृद्ध नैयायिकों ने गौ और गवय को समानता बतलाने वाला अति देश वाक्य ही उपमान प्रमाण माना है। अतः गौ और गवय के सादृश्य को विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान ही वास्तव में उपमान है। उसके सिवा अन्य कोई प्रमाण नहीं है।

**अनेक प्रमाण मानने की आपत्ति -**

यदि इस तरह के ज्ञान को उपमान प्रमाण फल माना जायेगा तो नैयायिकों और मीमांसकों को अनेक प्रमाण मानने पड़ेंगे। जैसे - किसी मनुष्य ने सुना जो सिंहासन पर बैठा हो वह राजा है। अथवा जो दूध और पानी को अलग-अलग कर दे वह हंस है या छः पैर का भौरा होता है, जिसमें सात-सात पत्ते हो वह विषमच्छद नाम का वृक्ष है। इन वाक्यों के संस्कार उनके मन में बैठ गये। बाह्य में वह इन सबको देखता है। इस प्रकार संज्ञा और संज्ञी के संबंध को प्रतिपत्ति होती है। यह प्रतिपत्ति उपमान तो नहीं है, क्योंकि उपमान तो प्रसिद्ध अर्थ को समानता की अपेक्षा करता है।

उक्त उदाहरणों में प्रसिद्ध अर्थ की समानता की कोई अपेक्षा नहीं है किन्तु उक्त सब ज्ञान स्मृति और प्रत्यक्ष की सहायता से उत्पन्न होते हैं और जोड़ रूप हैं। अतः इन सबका अन्तरभाव प्रत्यभिज्ञान में हो जाता है अतः उपमान के स्थान पर प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार कर लेना ही उचित होता है।



**उपमान का प्रत्यभिज्ञान में अंतर्भाव कैसे होता है**

मीमांसक दर्शन न्यायदर्शन प्रत्यभिज्ञान को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। मीमांसक दर्शन उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानने के पीछे तर्क प्रस्तुत करते हैं।

(1) भूमिका - जिस मनुष्य ने गाय को तो देखा गवय को नहीं देखा जंगल में गवय को देखा उसे गाय में सादृश्य ज्ञान होता है यही उपमान प्रमाण है।

तर्क 1 - यदि उपमान को प्रमाण नहीं माना जायेगा तो गवय के देखने से दूरवर्ती गौ में जो सदृश्य ज्ञान होता है वह कैसे होगा ?

2. वह उपमान पहले नहीं जानी गयी वस्तु का ही ज्ञान कराता है अतः इसे प्रमाण मानना चाहिए।

3. उपमान प्रमाण का विषय अपूर्व है।

4. उपमान प्रमाण का अंतर्भाव प्रत्यक्ष और स्मृति में नहीं होता है क्योंकि सदृश्य विशिष्ट ज्ञान उपमान से ही होता है।

5. उपमान अग्रहीत ग्राही होने से प्रमाण है। अनुमान प्रमाण के समान उपमान भी प्रमाण है।

6. उपमान प्रमाण का अंतर्भाव प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण में नहीं होता है -

प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्यक्ष में अंतर्भाव इसलिए नहीं होता है क्योंकि परोक्ष गाय को विषय करके उपमान प्रमाण होता है।

स्मृति प्रमाण प्रत्यक्ष से जाने हुए पदार्थ का कालान्तर स्मरण हुआ करता है। स्मरण से सदृश्य ज्ञान नहीं होता है।

अनुमान प्रमाण उपमान का अंतर्भाव अनुमान में नहीं होता है क्योंकि अनुमान हेतु से उत्पन्न होता है उपमान लिंग हेतु से उत्पन्न नहीं होता है।

अर्थापत्ति प्रमाण उपमान प्रमाण अर्थापत्ति भी नहीं है क्योंकि अर्थापत्ति प्रमाण किसी ऐसे सुने देखे पदार्थ की अपेक्षा होता है जिसके बिना कार्य शक्य न हो।

अभाव प्रमाण अभाव प्रमाण अभाव जानता है जब उपमान प्रमाण सद्भाव रूप सदृश्य को जानता है।

मीमांसकों के तर्कों को सुनने के बाद जैनाचार्यों ने कहा कि मीमांसकों ने उपमान का जो स्वरूप बताया है वह ठीक नहीं है क्योंकि उस प्रकार प्रतीति नहीं होती है। जिस मनुष्य ने यह सुना ही नहीं है कि गौ के समान गवय होता है।

उसको वही प्रतीति होती है यह गौ के समान कोई जानवर है। इसके समान गवय होता है इस प्रकार का ज्ञान सांख्यवहार किसी को नहीं होता है और यदि किसीको ऐसा ज्ञान होता है तो वह प्रत्यभिज्ञान से अलग प्रमाण नहीं है।

मीमांसक आक्षेप - प्रत्यभिज्ञान अनुश्रुत पदार्थ में ही होता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष और स्मरण ज्ञान से ही भिन्न होता है। किन्तु सामने वर्तमान गवय के रहने मात्र से दृश्य के साथ गौ का अनुभव पहले कभी नहीं हुआ। क्योंकि गवय को बिना जाने सदृश्य विशिष्ट ज्ञान कैसे होगा। अतः प्रत्यभिज्ञान में ज्ञान की प्रवृत्ति उपमान में कैसे हो सकती है।

जैन पक्ष (समाधान) - उस आक्षेप का समाधान देते हुये जैनाचार्य कहते हैं यह वही है इत्यादि प्रतीति को भी प्रत्यभिज्ञान नहीं कहा जा सकेगा। अतः प्रत्यभिज्ञान नहीं उपमान में सम्भव है।

अतः ज्ञाता पुरुष गवय को देखकर पहले अनुभूत गौ का स्मरण करता है और फिर गौ और गवय में सदृश्य व्यवहार करके यह संकलन करता है कि इस गवय के समान गौ है अतः ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञान ही है।

मीमांसक आक्षेप - यदि उपमान ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान मानते हैं तो इसे भी स्मरण और प्रत्यक्ष रूप सामग्री से उत्पन्न होना चाहिये। किन्तु वह सामग्री उपमान में नहीं हैं।

जैनाचार्यों द्वारा समाधान - उपमान में भी प्रत्यक्ष और स्मरण रूप सामग्री मौजूद है। गवय का प्रत्यक्ष और इसके समान गौ है इस ज्ञान को स्मरण की सहायता से उत्पन्न करता है या उसके बिना।

(अ) स्मरण की सहायता के बिना यदि ज्ञान उत्पन्न करता है जो जिस व्यक्ति ने गौ को कभी नहीं देखा उसे ही सदृश्य का ज्ञान हो जायेगा। यदि स्मरण ज्ञान की सहायता से ज्ञान करता है तो इसके समान गौ है ऐसा ज्ञान उत्पन्न हो जाना चाहिये। यदि गौ के स्मरण होने पर ही गवय प्रत्यक्ष उक्त ज्ञान को उत्पन्न करता है तो केवल गौ की प्रतीति होने से करता है या सदृश्य विशिष्ट गौ का

स्मरण होने से करता है। यदि प्रथम पक्ष में भैंस का स्मरणहोने पर भी गवय प्रत्यक्ष उक्त ज्ञान को उत्पन्न कर देगा। क्योंकि बिना सदृश्य प्रतीति के जै सी ही भैंस वैसी ही होगी। यदि गवय की समानता से युक्त गौ की स्मरण की अपेक्षा से ही गवय प्रत्यक्ष इसके समान गौ है। इस ज्ञान को उत्पन्न करता है तो यह सिद्ध होता है कि सदृश्य का प्रत्यक्ष पहले ही गौ दर्शन काल में हो जाता है। यदि ऐसा नहीं है तो उत्तर काल में गवयगत सदृश्य से विशिष्ट गौ का स्मरण नहीं हो सकता है।

**निष्कर्ष** - अतः स्मृति और प्रत्यक्ष की सहायता से उत्पन्न होने वाला उपमान प्रमाण प्रत्यभिज्ञान से पृथक प्रमाण नहीं है।



### जैन दर्शन का परोक्ष प्रमाण

जैन दर्शन में अन्य दर्शनों की तरह प्रमाण के भेद माने गये हैं। वे दो भेद हैं- एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। यह प्रमाण की चर्चा दार्शनिक युग की देन है। आचार्य श्री कुंदकुंद ने प्रवचनसार ग्रंथ में ज्ञान और ज्ञेय की चर्चा की है, प्रमाण और प्रमेय शब्द का प्रयोग किया, किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ में प्रमाण शब्द का प्रयोग किया है ज्ञान को ही प्रमाण कहते हैं। ज्ञान पाँच प्रकार का होता है - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान। यह दार्शनिक युग के प्रभाव से जैन सिद्धांत में प्रमाण का रूप उपलब्ध हुआ है पाँच ज्ञान के भेद बताने के बाद परोक्ष प्रमाण दो प्रकार के बताये गये हैं। मति और श्रुत ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहा गया है। इस तरह ज्ञान संबंधी प्राचीन जैन परम्परा को निबद्ध करके तत्त्वार्थ सूत्रकार ने मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध ज्ञानों अनर्थान्तर बताया है। इस तरह उन्होंने अपने समय में प्रचलित स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान प्रमाणों का अन्तर भाव मतिज्ञान में करके जैन क्षेत्र में दार्शनिक प्रमाण पद्धति को स्थान दिया। दार्शनिक क्षितिज पर नये-नये सितारे एक के बाद एक उगते थे और अपनी प्रभा से दर्शन शास्त्र का विकास

करके अस्त हो जाते थे समन्तभद्र, सिद्धसेन, वसुबंधु, दिग्गाग, धर्मकीर्ति, सबर, कुमारिल, वात्सायन, पूज्यपाद आदि प्रमुख दार्शनिकों ने भारत में जन्म लेकर अपने-अपने विचारों को प्रस्तुत किया, उनके पारस्परिक दार्शनिक सधर्मों के फलस्वरूप सभी दर्शनों का विकास हुआ और नयी-नयी गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न हुआ। जैन परम्परा में तत्त्वार्थ सूत्रकार ने तार्किक परम्परा को मतिज्ञान में अन्तर भूत करते हुये अपनी भावी पीढ़ी का मार्गदर्शन किया। किन्तु इससे प्रमाण पद्धति की समस्याएँ नहीं सुलझ सकीं। सबसे सबल गुत्थी थी इन्द्रिय जन्य ज्ञान को परोक्ष मानना। किसी भी दार्शनिक ने इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान को परोक्ष नहीं माना। सब उसे प्रत्यक्ष मानते हैं। दूसरी समस्या परोक्ष प्रमाण के भेदों को लेकर। दार्शनिकों के बीच बार-बार यह प्रश्न होता था कि जैन अगर अनुमान आदि दशान्तर में प्रसिद्ध प्रमाणों को परोक्ष प्रमाण मानते हैं तो उन्हें स्पष्ट करना चाहिये कि परोक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं उनके लक्षण भी सुनिश्चित क्या हैं? उपरोक्त प्रमाण विषयक समस्या को आचार्यश्री अकलंकदेव ने हमेशा को सुलझा दिया। तत्त्वार्थ सूत्र की पद्धति को मान्य करते हुये 'तत्प्रमाणे' सूत्र को आदर्श मानते हुये प्रत्यक्ष और परोक्ष को भेद किये किन्तु प्रत्यक्ष के दो भेद करते हुये एक सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष और दूसरा मुख्य प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि से बाहर निकाल कर सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित किया है। इस परिवर्तन से ना तो कोई प्राचीन जैन परम्परा को क्षति पहुँची है और विपक्षी दार्शनिकों को भी नुक्ता चीनी करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि प्राचीन जैन परम्परा इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को परोक्ष इत्तर दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष कहते थे। किन्तु सांख्यवहारिक अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष नाम देने से वह विवाद सदैव के लिये समाप्त हो गया। स्मृति आदि प्रमाणों को अकलंक देव सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष में अन्तरभूत किया और परोक्ष में श्रुतज्ञान में भी किया, जब तक इनमें शब्द का सन्सर्ग ना हो तब तक इन्हें सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष माना

और शब्द का सन्सर्ग होने के बाद इन्हीं स्मृति आदि को परोक्ष श्रुतज्ञान में अन्तर्भूत किया। अकलंकदेव ने सांख्यवहारिक को दो प्रत्यक्ष में माना एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष और दूसरा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष स्मृति आदि को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माना और मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष माना है। इसी मान्यता को अपना समर्थन मानते हुये उन्होंने प्रत्यक्ष के तीन भेद किये, एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष, दूसरा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और तीसरा अतिन्द्रिय प्रत्यक्ष। अवग्रह से लेकर धारणा तक ज्ञान को एक देश होने के कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माना। तथा स्मृति आदि को परोक्ष माना। अकलंक देव के बाद जैन तार्किकों ने एक मत से सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया है। किसी ने स्मृति आदि अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना। अकलंक देव ने तत्त्वार्थसूत्रकार के मत की रक्षा करने के लिये जो प्रयत्न किया वह सफल नहीं हो सका, किन्तु उनकी शुद्ध तार्किक प्रमाण पद्धति को सभी ने एक स्वर से अपनाया। तथा परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम ये पांच परोक्ष प्रमाण के भेद सर्वमान्य हुये। इस तरह प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के पाँचों भेदों को किसी ना किसी में गर्भित कर दिया।



## अभाव प्रमाण की श्रेणी में पृथक् से क्यों नहीं

मीमांसक दर्शन अभाव नामक स्वतंत्र प्रमाण मानता है जबकि अभाव प्रमाण का अंतर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में हो जाता है। मीमांसक मत के तर्क अभाव प्रमाण सिद्ध करने हेतु निम्न है -

1. इस भूतल पर घट नहीं है इस कथन से निषेध्य घट के आधार भूत वस्तु भूतल के ग्रहण आदि सामग्री से अभाव प्रमाण की उत्पत्ति होती है।
2. अभाव प्रमाण की दूसरी सामग्री प्रतियोगी का स्मरण है।
3. यदि अभाव को अर्थान्तर नहीं माना जाता है अभाव मूलक व्यवहार कैसे बन सकता है ?

4. यदि भूतल से घटा भाव अर्थान्तर नहीं है वो घट से युक्त भूतल में घट भी नहीं है ऐसा बोध होना चाहिये। किन्तु ऐसा बोध नहीं होता है। अतः जैसे भूतल में घट अर्थान्तर है वैसे ही घट अभाव में अर्थान्तर है।

मीमांसक मत के द्वारा अभाव प्रमाण को स्वतंत्र सिद्ध करने के लिये जो तर्क दिये गये उनके खंडन करने के लिए जैनाचार्य अपने कुछ तर्क देते हैं वे निम्न हैं -

**तर्क -1- (विकल्पात्मक तर्क)-** निषेध्य घट का आधार भूत भूतल प्रतियोगी घट से कैसे प्रतीत है ? (अ) संसृष्ट प्रतीत है अथवा (ब) असंसृष्ट प्रतीत है।

**संसृष्ट प्रतीत मानने पर बाधा -**

1. यदि प्रत्यक्ष से प्रतियोगी घट से संसृष्ट भूतल की प्रतीति होती है तो घट का अभाव ग्रहण करने के लिये अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

2. यदि अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति मानते हैं तो वह प्रमाण नहीं होगा क्योंकि घट के रहते हुये भी वह उसके अभाव को जानने में प्रवृत्त हो रहा है।

**असंसृष्ट पक्ष में आपत्ति -**

1. अभाव प्रमाण ही व्यर्थ होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष से घट से असंसृष्ट रहित भूतल की प्रतीति हो जाती है। यदि भूतल प्रतियोगी घट से रहित है। इस प्रकार का ज्ञान अभाव प्रमाण से माना जाये तो अनवस्था दोष आयेगा क्योंकि अभाव प्रमाण भी प्रतियोगी से असंसृष्ट अन्य वस्तु का ग्रहण होने पर प्रवृत्त होगा। और प्रतियोगी की असंसृष्टता का ज्ञान अभाव प्रमाण के द्वारा ही होगा।

**तर्क -2 का स्पष्टीकरण -**

तर्क 2 में विकल्पात्मक तर्क उत्पन्न होता है कि (अ.) तो वस्त्वन्तर भूतल से संसृष्ट प्रतियोगी का स्मरण होता है अथवा (ब पक्ष) असंसृष्ट प्रतियोगी का स्मरण होता है।

अ पक्ष मानने पर आपत्ति (1) भूतल से संसृष्ट रूप प्रतियोगी का स्मरण मानने पर अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि प्रत्यक्ष से भूतल युक्त प्रतीत होता है।

ब असंसृष्ट (रहित) प्रतियोगी का ग्रहण होने पर ही उस घट रूप में स्मरण हो सकता है अन्यथा नहीं तो ऐसा मानने पर अभाव प्रमाण ही व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि प्रत्यक्ष से भूतल से संबद्ध प्रतियोगी के सद्भाव का ग्रहण हो रहा है। और वस्तु मात्र का प्रत्यक्ष से ग्रहण मानने पर प्रतियोगी और अप्रतियोगी का व्यवहार ही नहीं बनता है। यदि अनुभूत वस्तु में प्रतियोगी के स्मरण के बिना अभाव की प्रतिपत्ति नहीं होती है तो अनुभूत प्रतियोगी का स्मरण होना चाहिये। और उसका अनुभव अन्य असंसृष्ट रूप से मानना चाहिए तथा उसकी भी अन्य असंसृष्ट रूप से प्रतिपत्ति होगी उससे अन्यत्र प्रतियोगी के स्मरण पूर्वक होगी इस तरह से अनवस्था दोष आता है। यदि कहा जाये कि प्रतियोगी भूतल के स्मरण से घट की अन्य असंसृष्टता की प्रतीति होती है और उसके स्मरण से भूतल की अन्य असंसृष्टता की तो परस्परश्रय दोष आता है।

अतः प्रत्यक्ष से भावांश की तरह अभावांश भी मानना चाहिये अभाव प्रत्यक्ष का विषय है और अभाव को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना जा सकता है। तथा अभाव प्रमाण की उत्पत्ति सामग्री तथा विषय का अभाव होने से उस अभाव को अलग से प्रमाण मानना उचित नहीं है।

**विशेष -** पदार्थ से भिन्न कोई अभावांश नहीं होता है यदि हो तो वह अभावांश पृथक् मानना पड़ेगा और पर अपर रूप अभाव की परिकल्पना करने से अनवस्था दोष आता है। अतः अभाव भाव से पृथक् कोई पदार्थ नहीं है।

#### अभाव मूलक व्यवहार की समस्या -

मीमांसक अर्थान्तर रूप अभाव पदार्थ नहीं मानने पर अभाव मूलक व्यवहार कैसे चलेगा ? अब प्रश्न यह होता है कि घट सहित भूतल को घटाभाव कहा जाये या फिर घट रहित भूतल को घटाभाव कहा जाये। प्रथम पक्ष में प्रत्यक्ष से विरोध आता है और दूसरे पक्ष में नाममात्र का भेद है।

इस प्रकार मीमांसक द्वारा उठाई गयी समस्या को जैनाचार्य एक गुत्थी उलझाना कहते हुये तर्क देते हैं क्या भूतल घटाकार है कि जिसमें घट नहीं है ऐसा कहने पर

प्रत्यक्ष विरोध होता है क्योंकि भूतल घटाकार रहित होने से घट नहीं यह सत्य है।

एक और मीमांसक तर्क - यदि भूतल से घट अभाव अर्थान्तर नहीं है तो घट से युक्त भूतल में भी घट नहीं है ऐसा बोध होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता है।

प्रस्तुत तर्क के खंडन में जैनाचार्य कहते हैं कि मीमांसक का यह कथन उचित नहीं है क्योंकि घट में कभी न पाये जाने वाले भूतलगत असाधारण धर्मों से युक्त भूतल को घटाभाव कहा जाता है किन्तु घटयुक्त भूतल घट है। और भूतल के संयोगरूप, साधारण धर्म से विशिष्ट होने से घटयुक्त रूप से परिणमित है अतः भूतल घट रहित है ऐसा उस समय नहीं कहा जा सकता है।



### प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणरूप सिद्धि

भारतीय दर्शनों में तीन विचारधारायें देखी जाती है। एक विचारधारा प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानती है, दूसरी विचारधारा प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं मानती है। और इन दोनों विचाराधाराओं में भिन्न तीसरी विचारधारा प्रत्यभिज्ञान से समानता रखने वाले उपमान को पृथक् से प्रमाण मानती हैं। इन विचारधाराओं की समीक्षा करने से पहले प्रत्यभिज्ञान को स्पष्ट करना आवश्यक होगा।

प्रत्यभिज्ञान की अर्थ और परिभाषा से प्रत्यभिज्ञान की मूल अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण प्रत्यक्ष और स्मृति के जोड़रूप या संकलन रूप सम्यग्ज्ञान का नाम है। प्रत्यभिज्ञान बाधा रहित प्रमाण रूप जैन-दर्शन में माना है किन्तु बौद्ध दर्शन ने प्रत्यभिज्ञान को बाधा सहित देखा है। इसलिये बौद्ध दर्शन के विद्वान प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण न मानने के पीछे अपने कुछ तर्क प्रस्तुत करते हैं।

1. पहले जानी हुई वस्तु को पुनः कालान्तर में जानने का नाम प्रत्यभिज्ञान है। यह ज्ञान एक नहीं है क्योंकि स्पष्ट-अस्पष्ट रूप से दो ज्ञान होने से दो विरोधी धर्मों के आधार से उत्पन्न ज्ञान एक नहीं हो सकता है। और यदि एक हो जाये या



दो आकार एकमेक होकर प्रतिभासित होंगे अथवा अलग-अलग प्रतिभासित होंगे।

अ) दो आकार एकमेक होकर मानने पर दोनों में से किसी एक आकार का ही प्रतिभास होना चाहिए क्योंकि दूसरा आकार उससे अभिन्न है।

ब) दोनों को अलग-अलग मानने पर दो आकार यदि अलग-अलग प्रतिभासित होते हैं तो ज्ञान के न होकर अलग-अलग दो होते हैं।

**निष्कर्ष** - इसलिये प्रत्यभिज्ञान का एक ज्ञान कैसे संभव है ?

**बाधा** - इन्द्रिय मात्र वर्तमान पदार्थ का ज्ञान कराती है इसलिये इन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान का कारण नहीं है।

संस्कार स्मृति का कारण है इसलिये वह प्रत्यभिज्ञान का कारण नहीं हो सकता है।

3. इन्द्रिय और संस्कार दोनों प्रत्यभिज्ञान के कारण नहीं हो सकते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और स्मृति के कारण होने से वही दोष उत्पन्न हो जायेंगे।

निष्कर्ष - कारण के बिना कार्य नहीं होता है और प्रत्यभिज्ञान का निश्चित कारण नहीं होने से प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है।

तर्क - यदि प्रत्यभिज्ञान को संभावनाओं के आधार पर मान भी लिया जाय तो वह प्रमाण रूप नहीं होता है क्योंकि उसका कोई विषय नहीं होता है।

प्रत्यभिज्ञान के विषय में दो संभावनायें -

1. विषय पूर्व ज्ञान में प्रतिभासित वस्तु है
2. या उससे कोई भिन्न वस्तु है।

**बाधायें** - 1. पहली संभावना धारावाहिक ज्ञान और गृहीत-ग्राही होने से प्रमाण नहीं है।

2. दूसरी संभावना प्रत्यभिज्ञान का विषय किससे भिन्न है यह निश्चित नहीं हो पाता है क्योंकि

1. अतीतकालवर्ती और वर्तमान कालवर्ती देवदत्त में एक रूप प्रतीति प्रत्यभिज्ञान से होती है इसलिये पूर्व ज्ञान में प्रतिभासित वस्तु की विशेष रूप से प्रत्यभिज्ञान जानता है इसलिये अग्रहीत ग्राही होने से प्रमाण है। ऐसा विपक्ष का तर्क बौद्ध को मान्य नहीं है, वे कहते हैं एक्य क्या चीज है, जिसे प्रत्यभिज्ञान का विषय माना जाए। एक्य संख्या है या स्थायित्व है। यदि एक्य को संख्या माना जाय तो एक्य की प्रतीति प्रत्यक्षकाल में ही होती है इसलिये प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रत्यक्ष से कोई विशेषता नहीं रहती है।

2. यदि स्थायित्व रूप मानते हैं तो स्थायित्व भिन्न होता है या देवदत्त से अभिन्न होता है।

यदि स्थायित्व को अभिन्न माना जाये तो प्रत्यभिज्ञान गृहीत-ग्राही होने से अप्रमाण माना जायेगा और यदि भिन्न माना जाय तो देवदत्त ज्ञान पहले उत्पन्न होता है या देवदत्त पहले उत्पन्न होता है। यदि देवदत्त पहले उत्पन्न होता है तो पूर्व ज्ञान से यदि देवदत्त को जानता है तो वह स्थायित्व को भी जान लेगा। तो फिर प्रत्यभिज्ञान का विषय पूर्व ज्ञान से अधिक कैसे हुआ ? यदि स्थायित्व और पूर्वज्ञान दोनों समकालीन है तो वह प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं हो सकता है क्योंकि पहले जाने हुये पदार्थ को कालान्तर में जानने पर ही प्रत्यभिज्ञान होता है।

इन उपरोक्त सभी तर्कों को मूल्य शून्य मानकर प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण रूप सिद्ध करने के लिये जैनाचार्य अपने ठोस तर्क निम्न रूप से प्रस्तुत करते हैं-

1. दो आकार एक ज्ञान में रह सकते हैं

**विश्लेषण (तर्क का विस्तार)**

(अ) बौद्ध के द्वारा मान्य चित्र ज्ञान सविकल्पक और निर्विकल्प दो आकारों को लिये हुये एक विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है उसी तरीके से प्रत्यक्ष और स्मरण रूप सामग्री से उत्पन्न होने वाला प्रत्यभिज्ञान दोनों आकारों को लेकर ही उत्पन्न होता है। जैसे बौद्धमत में एक ही ज्ञान परोक्ष और अपरोक्ष तथा निर्विकल्प-

सविकल्प दो विरोध धर्मों का आधार हो तो इसमें कोई बाधा नहीं आती है।

(ब) बौद्ध कहते हैं कि दोनों आकार परस्पर में अलग-अलग प्रतिभासित होते हैं कि एकमेक।

यह प्रश्न तो बौद्धों का व्यर्थ ही है। दोनों आकारों के एकमेक का तात्पर्य यदि एक आधार में रहना माना जाता है तो हमें इष्ट है। कारण कि एक प्रत्यभिज्ञान में दोनों की प्रतीति अबाधित होती है। और यदि दो आकारों को एक प्रत्यभिज्ञान में बौद्ध अबाधित नहीं मानेंगे तो उनका चित्र ज्ञान भी सिद्ध नहीं हो पायेगा।

(स) जैनों का अलग तर्क-कारण का अभाव होने से प्रत्यभिज्ञान का अभाव मानना अनुचित है। क्योंकि प्रत्यक्ष और स्मरण का तो भिन्न-भिन्न विषय है तब ये दोनों एक प्रत्यभिज्ञान के कारण हो सकते हैं यह आशंका भी अनुचित है जैसे बीज के होने पर अंकुरण होता है और बीज के अभाव में अंकुरण नहीं होता है इसलिये अंकुरण का कारण बीज है। उसी प्रकार दर्शन और स्मरण के होने पर प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है। अतः दर्शन और स्मरण प्रत्यभिज्ञान के कारण है।

(द) प्रत्यभिज्ञान को मात्र गृहीत-ग्राही होने के कारण अप्रमाण की कोटि में डाला नहीं जा सकता है। यदि ऐसा कहा जायेगा तो अनुमान भी गृहीतग्राही होता है। और वह अनुमान भी अप्रमाण सिद्ध हो जायेगा।

इ) बुद्धिमान होने से भी प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण रूप सिद्ध नहीं होता है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के विषय में अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है और यदि अनुमान की प्रवृत्ति हो भी तो वह बाधक सिद्ध नहीं होती है।

फ) सदृश्य प्रत्यभिज्ञान को सिद्ध करने के लिये जैनाचार्य कहते हैं कि नाखून काटने के बाद बड़े हुये नाखूनों को यदि कोई प्रत्यभिज्ञान से जान ले, कि वही नाखून है तो उसका ज्ञान बाध्य मान होता है। तब प्रत्यभिज्ञान प्रमाण कैसे हुआ ?

इस बौद्धों के कुतर्क को बाधित करते हुये जैन आचार्य कहते हैं कि सच्चे प्रत्यभिज्ञान में बाधा नहीं आ सकती है। यदि एक जगह किसी ज्ञान को असत्य सिद्ध होने पर सभी जगह उस ज्ञान को असत्य माना जायेगा तो रूपी में चाँदी का

ज्ञान भ्रान्त होता है इसलिये क्या चाँदी में होने वाला चाँदी का ज्ञान भ्रान्त माना जायेगा अतः एकत्व प्रत्यभिज्ञान युक्तियों से मानना उचित है।



## तर्क का मूल स्वरूप

तत्त्वार्थ सूत्र में जिसे चिन्ता कहा गया है उसे दार्शनिक भाषा में तर्क कहते हैं और इसी तर्क का दूसरा नाम ऊहा है।

**तर्क की परिभाषा** - व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य और साधन के भाव को व्याप्ति कहते हैं।

**अविनाभाव** - अविनाभाव एक नियम है और यह नियम दो प्रकार से व्यवस्थित होता है। एक तथोत्पत्ति और दूसरा अन्यथानुत्पत्ति साध्य के होने पर साधन होता है उसे तथोत्पत्ति कहते हैं और साध्य नहीं होने पर साधन का न होना अन्यथानुत्पत्ति कहलाता है। जैसे अग्नि के होने पर धुआँ होता है यह तथोत्पत्ति और अग्नि के न होने पर धुआँ का न होना अन्यथानुत्पत्ति।

जो सिद्ध करने योग्य होता है उसे साध्य कहते हैं और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है उसे साधन कहते हैं। भारतीय दर्शनकारों ने तर्क के संबंध में कई मत प्रस्तुत किये हैं उनमें कई दर्शन तर्क को मानते हैं परन्तु स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते हैं। जैन दर्शन तर्क को स्वतंत्र और परोक्ष प्रमाण मानता है। जिनमे बौद्ध, नैयायिक, योग, चार्वाक और मीमांसक दर्शन तर्क को प्रमाण नहीं मानते हैं। साधन, साध्य के द्वारा नियत/निश्चित होता है न कि साधन के द्वारा साध्य, जैसे धूम के अभाव में अग्नि तो पाई जाती है किन्तु अग्नि के अभाव में धूम कभी नहीं पाया जाता है। तर्क की आवश्यकता इसलिये होती है क्योंकि व्याप्ति का ग्रहण न प्रत्यक्ष से होता है न कि अनुमान से अतः तर्क को पृथक् प्रमाण मानना उचित ही होता है।

नैयायिक दर्शनों का मानना है कि व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है और वे कहते हैं कि साध्य और साधन के अविनाभाव की प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है और

अग्नि के संबंधि रूप से ही होती है इसलिये धूम और अग्नि के नियम की प्रतीति उसी समय से हो जाती है। जिस समय प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है और धूम की उत्पत्ति अग्नि के सिवाय दूसरे से नहीं होती है इससे असंदिग्धता सिद्ध होती है और अग्नि के सिवा दूसरे कारणों से धुआं उत्पन्न न होने के कारण इसमें विपर्यय भी नहीं होता है। व्याप्ति का उल्लेख अनुसंधान से होता है। अन्वय और व्यतिरेक का दर्शन होने से संदेह और विपर्यय दोनों नहीं रहते हैं। इसलिये पृथक् से तर्क प्रमाण की जरूरत नहीं होती है क्योंकि इन्द्रियों से होने वाला व्याप्ति ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।

जैनपक्ष अपने तर्कों के माध्यम से व्याप्ति को ग्रहण करने के लिये तर्क प्रमाण की आवश्यकता होती है इसे सिद्ध करने के लिये अपने निम्न तर्क देते हैं-

1. व्याप्ति का ग्रहण इन्द्रिय प्रत्यक्ष से होता है या मानस प्रत्यक्ष से इन्द्रिय प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण हो नहीं सकता है, कारण कि इन्द्रियाँ प्रतिनियत देश और प्रतिनियत काल के साथ संबंध रखती हैं और उसे ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष जानता है किन्तु व्याप्ति ज्ञान समस्त देश और कालवर्ती अर्थ को लेकर अपना कार्य करती है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इन्द्रिय का कार्य क्षेत्र प्रतिनियत देश काल में सीमित होता है जबकि व्याप्ति का कार्यक्षेत्र सर्वदेश सर्वकाल होता है। व्याप्ति दोनों लोक और तीनों काल को अपना विषय बना सकती है। समस्त व्याप्य और व्यापक को अपने क्षेत्र में लेना व्याप्ति का कार्य है। इसलिये समस्त व्याप्य और व्यापक व्यक्तियों को इन्द्रिय ग्रहण कर सकती है। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता है। व्याप्ति सर्वोपसम्हारिवर्ती होती है। इसलिये एक प्रत्यक्ष तो सैकड़ों इन्द्रिय प्रत्यक्षों से भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं होगा। क्योंकि प्रत्यक्ष संबद्ध और वर्तमान विषय को ही ग्रहण करता है। अतः उपसंहार करके अविनाभाव को जानने में इन्द्रिय प्रत्यक्ष असमर्थ होता है।

**विपक्ष का तर्क** - अन्वय और व्यतिरेक की सहायता से प्रत्यक्ष व्याप्ति का ज्ञान कर लेगा। जैन तार्किकों का इस तर्क को खण्डन करने के लिये इस प्रकार कथन किया गया कि हजार बार अन्वय-व्यतिरेक की सहायता होने पर

भी जिस विषय में प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है वही और वह व्यक्ति को जान सकता है और जिस विषय में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती है उसे वह नहीं जान सकता है क्योंकि व्याप्ति की आवश्यकता अनुमान के लिये होती है और जब साध्य और साधन को प्रत्यक्ष से ही जान लेगा तो अनुमान की आवश्यकता नहीं होगी। व्याप्ति का उल्लेख अनुसंधान से होता है ऐसा नैयायिकों का तर्क भी व्यर्थ सिद्ध होता है क्योंकि व्याप्ति की प्रतिपत्ति करने में समर्थ ज्ञान प्रत्यक्ष रूप नहीं है। उसकी उत्पादक सामग्री और विषय प्रत्यक्ष से भिन्न है। प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय आदि सामग्री से उत्पन्न होता है और इन्द्रिय का विषय तो वर्तमान से संबद्ध है। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है किन्तु तर्क ज्ञान मात्र वर्तमान से संबद्ध नहीं होता है। नैयायिक तर्क के विषय में नई प्रस्तुति देता है।

नैयायिक कहता है कि यदि तर्क ज्ञान प्रत्यक्ष रूप नहीं है तो उसमें इन्द्रियों की उपेक्षा क्यों होती है। इस नैयायिकों की नई प्रस्तुति का उत्तर जैनाचार्य देते हुये कहते हैं - इन्द्रिय तर्क के कारण का कारण है। प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ में इन्द्रिय कारण है इसलिये तर्क में इन्द्रिय की अपेक्षा होती है। इसलिये इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष व्याप्ति को जानने में समर्थ नहीं होता है।

#### मानस प्रत्यक्ष में तर्क की भूमिका -

मानस प्रत्यक्ष भी व्याप्ति को नहीं जान सकता है क्योंकि बाह्य इन्द्रिय की सहायता से बिना बाह्य पदार्थों में मन की प्रवृत्ति नहीं होती है और न्याय दर्शन में मन अणु रूप माना है अतः अणु रूप मन एक साथ समस्त पदार्थों के साथ संबंध नहीं हो सकता है इसलिये वह मानस प्रत्यक्ष व्याप्ति को कैसे जान सकता है ?

अतः व्याप्ति का ग्रहण इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष दोनों से नहीं हो सकता है। अतः व्याप्ति के ग्राहक तर्क प्रमाण को पृथक् रूप से मानना आवश्यक है।

तर्क के बिना व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता है और व्याप्ति के बिना अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता है। अनुमान की सिद्धि के लिये व्याप्ति की सिद्धि आवश्यक है। इसलिये तर्क को अलग से प्रमाण मानना चाहिये।



## प्रत्यभिज्ञान प्रमाण क्यों ?

प्रत्यक्ष स्मरण की सहायता से जोड़रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही देवदत्ता है। गवय गो के समान होता है, भैंस गो से अलग होती है, यह उससे दूर है। ये चार उदाहरण चार प्रकार के प्रत्यभिज्ञान को स्पष्ट करते हैं। सदृश्य, विसदृश्य, एकत्व और प्रतियोगी। प्रत्यभिज्ञान की समस्या यह है कि क्षणिकवादी बौद्ध इसे प्रमाण नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि पहले जानी हुई वस्तु को पुनः कालान्तर में यह वही है इस रूप में जानने का नाम प्रत्यभिज्ञान है। किन्तु यह एक ज्ञान नहीं है क्योंकि इसमें 'वह' यह ज्ञान स्मरणरूप होने से अस्पष्ट है और 'यह' ज्ञान प्रत्यक्ष रूप होने से स्पष्ट होता है अतः स्पष्ट और अस्पष्ट रूप दो विरोधी धर्मों का आधार एक नहीं हो सकता है। यदि हो सकता है तो बौद्ध दो विकल्प तर्क प्रस्तुत करते हैं -

**तर्क - अ )** यदि दो आकार प्रत्यभिज्ञान में एकमेक होकर प्रतिभासित होते हैं

### अथवा

ब) अलग-अलग होकर प्रतिभासित होते हैं ?

### विकल्प अ का खण्डन -

एकमेक होकर प्रतिभासित होने पर दोनों में से किसी भी एक आकार का प्रतिभास नहीं होता है।

### विकल्प ब का खण्डन -

यदि दोनों आकार अभिन्न है या अलग-अलग होकर प्रतिभासित होते हैं तो ये दो अलग-अलग ज्ञान सिद्ध होते हैं तो एक प्रत्यभिज्ञान नाम का ज्ञान कैसे सिद्ध होगा ?

**तर्क - 2 -** प्रत्यभिज्ञान का कोई कारण नहीं होता है उसका कारण इन्द्रिय ज्ञान भी नहीं माना जा सकता है। क्योंकि वह वर्तमान पदार्थ का ही ज्ञान कराती

है। संस्कार भी प्रत्यभिज्ञान का कारण नहीं है क्योंकि वह स्मरण का कारण है। इन्द्रिय और संस्कार दोनों ही प्रत्यभिज्ञान के कारण नहीं है क्योंकि दोनों के कारण मानने से दोनों पक्ष में दिये गये दोष उपस्थित होते हैं। अतः प्रत्यभिज्ञान का कोई कारण नहीं है।

**तर्क 3 -** प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भी नहीं हो सकता है क्योंकि उसका कोई विषय नहीं है।

**तर्क का विस्तार - क)** प्रत्यभिज्ञान का विषय पूर्व ज्ञान में प्रतिभासित वस्तु है या उससे भिन्न वस्तु है। यदि पूर्व ज्ञान से जानी हुई वस्तु को प्रत्यभिज्ञान जानता है तो वह धारावाहिक ज्ञान होता है और गृहीग्राही ज्ञान होता है और गृहीग्राही ज्ञान होने से प्रमाण नहीं हो सकता है।

**ख)** यदि पूर्व ज्ञान में प्रतिभासित वस्तु के प्रत्यभिज्ञान का विषय भिन्न है तो वह किस बात से भिन्न है ? संभवतः यदि कोई कहे कि अतीत कालवर्ती और वर्तमान कालवर्ती देवदत्त में एक्य से प्रत्यभिज्ञान होता है। अतः पूर्व ज्ञान में प्रतिभासित वस्तु को विशेष रूप से प्रत्यभिज्ञान जानता है। इसलिये वह अग्रहीत ग्राही होने से वह प्रमाण है, किन्तु यह ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह एक्य क्या चीज है जिसे प्रत्यभिज्ञान अपना विषय बनाता है।

वह एक्य संख्या रूप है या स्थायित्व यदि एकत्व से तात्पर्य संख्या रूप में है तो एकत्व संख्या की प्रत्यक्ष काल में ही हो जाती है। क्योंकि प्रत्यक्ष से एक देवदत्त का ज्ञान होता है तब प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रत्यक्ष से क्या विशेषता रही ?

यदि एकत्व से तात्पर्य स्थायित्व से है तो वह स्थायित्व देवदत्त से भिन्न है या अभिन्न ये दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। यदि अभिन्न माना जाये तो पूर्व ज्ञान ने देवदत्त को जान लिया उसी समय उससे अभिन्न स्थायित्व को जाना तब प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही क्यों नहीं हुआ ?

यदि वह स्थायित्व देवदत्त से भिन्न है तो वह देवदत्त के समय में ही उत्पन्न होता है अथवा उससे पहले उत्पन्न हो जाता है। यदि पहले उत्पन्न हो जाता है तो पूर्वज्ञान जब देवदत्त को जानता है तब उसके स्थायित्व को भी जान लेगा, फिर प्रत्यभिज्ञान का विषय पूर्व ज्ञान से अधिक कैसे हुआ ? यदि वह स्थायित्व प्रत्यभिज्ञान के समय ही उत्पन्न होता है तो वह प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं हो सकता है क्योंकि पहले जाने हुये पदार्थ को कालान्तर में जानने पर ही प्रत्यभिज्ञान होता है।

**निष्कर्ष** - बौद्धों के द्वारा दिये गये तर्क से वे प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण रूप मान्य नहीं करते हैं।

**जैनाचार्य** - अपने तर्कों के माध्यम से प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण सिद्ध करने में सफल होते नजर आते हैं उनके वे तर्क निम्न हैं -

1. चित्र ज्ञान की तरह प्रत्यभिज्ञान भी दो आकारों की प्रतीति होती है। अतः एक ज्ञान में दो आकारों की प्रतिभासित होने में कोई विरोध नहीं है।

**तर्क का स्पष्टीकरण** - बौद्ध मत में मान्यता है कि चित्रपट आदि सामग्री से एक चित्र ज्ञान पैदा होता है अथवा प्रत्यक्ष आदि सामग्री से सविकल्प-निर्विकल्प आकारों को लिये हुये एक विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है। वैसे ही प्रत्यक्ष और स्मरण रूप सामग्री से उत्पन्न होने वाला प्रत्यभिज्ञान दोनों आकारों को लेकर उत्पन्न होता है। जैसे बौद्ध मत में एक ही ज्ञान परोक्ष और अपरोक्ष तथा निर्विकल्प और सविकल्प दो विरोधी धर्मों का आधार होता है वैसे ही प्रत्यभिज्ञान भी यदि दो धर्मों का आधार हो तो उसमें कोई आपत्ति का कारण शेष नहीं रहता है। अतः बौद्धों के द्वारा दिया आकार संबंधी तर्क निराधार सिद्ध होता है।

2. बौद्धों के द्वारा प्रत्यभिज्ञान के कारण अभाव होने से प्रत्यभिज्ञान का अभाव सिद्ध होता है यह तर्क भी अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि प्रत्यक्ष और स्मरण प्रत्यभिज्ञान का कारण है।

**तर्क का आधार** - प्रत्यक्ष और स्मरण का तो विषय भिन्न-भिन्न है। प्रत्यक्ष का आकार यह और स्मरण का आकार वह है तब दोनों एक प्रत्यभिज्ञान के कारण कैसे हो सकते हैं ? जिसके होने पर ही हो और नहीं होने पर न हो वही कारण होता है। जैसे - बीज के होने पर ही अंकुर उत्पन्न होता है और बीज के अभाव में अंकुर नहीं होता है तो अंकुर का कारण बीज होता है वैसे ही दर्शन और स्मरण के होने पर भी प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है अतः दर्शन और स्मरण उस प्रत्यभिज्ञान का कारण है।

### 3. प्रत्यभिज्ञान और प्रमाण -

जो प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं उनसे हमारे तीन प्रश्न हैं -

1. क्या प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं है ?
2. क्या प्रत्यभिज्ञान गृहीत ग्राही है ?
3. क्या वह प्रत्यभिज्ञान दूसरे प्रमाणों के द्वारा बद्धमान है ?

**स्पष्टीकरण** - प्रत्यभिज्ञान का विषय पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहने वाला एक द्रव्य होता है तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप भिन्न होता है तो उसका विषय भी भिन्न ही होना चाहिये क्योंकि जिसका भिन्न स्वरूप होता है उसका विषय भी विलक्षण होता है। प्रत्यक्ष से प्रत्यभिज्ञान का विषय अलग ही है। प्रत्यभिज्ञान का विषय अतीत और वर्तमान काल में रहने वाला द्रव्य विशेषज्ञ है। पदार्थ को प्रति समय क्षणिक मानने वाले भले ही कोई द्रव्य विशेष को प्रत्यभिज्ञान का विषय क्षणिक होने के कारण नहीं माने किन्तु उनका क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होता है। अतः प्रत्यभिज्ञान को विषय न होने से अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है।

**प्रश्न 2 का स्पष्टीकरण** - गृहीत ग्राही होने से प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के विषय को अन्य कोई प्रमाण ग्रहण नहीं करता है। प्रत्यक्ष वर्तमान वस्तु का ग्राहक है और स्मरण ही अतीत पर्याय को विषय करता है इसलिये वह भी वर्तमान को ग्रहण नहीं कर सकता है। अतः



प्रत्यभिज्ञान के सिवाय अन्य कोई प्रमाण ऐसा नहीं है जो प्रत्यभिज्ञान का विषय ग्रहण कर सके।

यद्यपि एकत्व प्रत्यक्ष का विषय है। किन्तु वह नियत वर्तमान पर्याय रहने वाले एकत्व को ही विषय करता है। परन्तु प्रत्यभिज्ञान अतीत और वर्तमान पर्याय में रहने वाले एकत्व को विषय करता है। प्रत्यभिज्ञान का विषय कथंचित् अपूर्व है इसलिये उसे ग्रहीत ग्राही होने से अप्रमाण नहीं माना जा सकता है यदि सर्वथा अपूर्व अर्थ को विषय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण माना जायेगा तो अनुमान भी अप्रमाण हो जायेगा क्योंकि उसका विषय भी सर्वथा अपूर्व नहीं होता है।

**प्रश्न 3 का स्पष्टीकरण** - बध्यमान होने से भी प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है क्योंकि उसका कोई साधक भी नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमान को बाधक नहीं माना जा सकता है। प्रत्यक्ष में प्रत्यभिज्ञान के विषय की प्रवृत्ति नहीं होती है। जो जिसके विषय को नहीं जानता है वह उसका बाधक नहीं हो सकता है। जैसे रूप रस ज्ञान बाधक नहीं है। अनुमान भी बाधक नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के विषय में अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि प्रवृत्ति हो भी तो वह समर्थक ही होता है बाधक नहीं।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान न मानने वाले बौद्ध कहते हैं - कट जाने पर पुनः बढ़ जाते हैं अतः कटने पर बढ़े हुये नाखूनों को यदि कोई प्रत्यभिज्ञान से जान ले कि यह वही नाखून है तो उसका ज्ञान बध्यमान देखा जाता है। तब सदृश्य प्रत्यभिज्ञान प्रमाण कैसे हुआ ?

इस बौद्धमत के कथन पर स्पष्टीकरण देते हुये जैनाचार्य कहते हैं कि यदि कटने पर पुनः बढ़े हुये नाखूनों में यह वही नाखून है यह प्रत्यभिज्ञान बाधित होता है तो इससे सच्चे प्रत्यभिज्ञान में कोई बाधा नहीं आ सकती है। क्योंकि एक जगह किसी एक ज्ञान के असिद्ध होने पर सब जगह उस ज्ञान को असिद्ध माना जायेगा तो बध्यमान सिद्ध नहीं होती है। जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान भ्रान्त

होता है तो क्या चाँदी में चाँदी का ज्ञान भी भ्रान्तमाना जायेगा ? अतः एकत्व प्रत्यभिज्ञान को न मानना अनुचित है।

अब सदृश्य प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है क्योंकि सदृश्य प्रत्यभिज्ञान के अभाव में अनुमान नहीं हो सकता है।

**स्पष्टीकरण** - जिस मनुष्य ने धूम सहित अग्नि को देखा है वही बाद में पूर्व धूम के समान धूम के देखने से अनुमान का ज्ञान करता है अन्यथा नहीं। बिना प्रत्यभिज्ञान के यह धूम पहले देखे हुये धूम के समान है यह ज्ञान नहीं है क्योंकि पहले का प्रत्यक्ष वर्तमान धूम को नहीं जान सकता है और अब का प्रत्यक्ष पहले देखे हुये धूम को नहीं जान सकता है और दोनों को जाने बिना दोनों में रहने वाले सादृश्य को नहीं जाना जा सकता। अतः एकत्व प्रत्यभिज्ञान की तरह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान को भी प्रमाण मानना चाहिये।



## स्मृति अप्रमाणवाद की समीक्षा

स्मृति अप्रमाणवाद बौद्धदर्शन का अपना अलग चिंतन है। वे अनित्यवादी होने के कारण स्मृति को प्रमाण मानने के लिये तैयार नहीं होते हैं। वे स्मृति को प्रमाण की कोटि से बाहर करने के लिये दो विकल्प तर्क खड़े करते हैं -

1. क्या स्मृति ज्ञान मात्र है ?
2. स्मृति अनुभूति अर्थ को विषय करने वाला ज्ञान है ?

प्रथम विकल्प तर्क के बारे में बौद्ध कहते हैं कि स्मृति को ज्ञान मात्र मानने पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी स्मृतिरूप हो जायेंगे तथा शेष सभी प्रमाणों का लोप हो जावेगा कारण कि प्रत्येक ज्ञान को स्मृति रूप माना जा रहा है।

1. अनुभूत पदार्थ में जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह स्मृति कहा जावेगा।
2. यदि यह कहा जाये कि जिस मनुष्य ने पहले जिस वस्तु को प्रत्यक्ष से

जाना कालान्तर से उसी मनुष्य या वस्तु का जो ज्ञान होता है वह स्मृति है तो धारावाहिक प्रत्यक्ष ज्ञान भी स्मृति रूप हो जायेगा।

3. अनुभूत वस्तु का ज्ञान कैसे मालूम होता है इस समस्या तर्क के लिये बौद्ध निम्न विकल्प देते हैं -

क) प्रत्यक्ष से, ख) स्मृति से ग) दोनों से।

अ) प्रत्यक्ष से मानने पर आपत्ति यह आती है कि जिस समय प्रत्यक्ष ज्ञान होगा उस समय स्मृति नहीं रहेगी और असत् स्मृतिज्ञान को प्रत्यक्ष कैसे जान सकता है ? क्योंकि जो असत् होता है उसे जाना नहीं जा सकता है जैसे गधे के सींग। इसी तरह अप्रत्यक्ष के समय स्मृति ज्ञान असत् है। अतः उसे प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता है।

क) स्मृति की प्रतीति नहीं हो सकती है। क्योंकि स्मृति तो प्रत्यक्ष का अनुशरण करती है। किन्तु प्रत्यक्ष का विषय अनुभूतता नहीं है। अनुभूय मानना है।

ख) स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों से अनुभूत वस्तु का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि प्रत्येक पक्ष में पूर्व में कहे गये दूषण ही आते हैं। अतः स्मृति प्रमाण का विषय नहीं हो सकता है।

अतः बौद्ध स्मृति को प्रमाण नहीं मानते हैं।

**जैनाचार्यों के इस वाद के विपक्ष में तर्क -**

जैनाचार्यों ने स्मृति को प्रमाण सिद्ध करने के लिये अपने पैसे तर्कों को प्रस्तुत किया है जिनका वजन बहुत अधिक माना जा सकता है। वे तर्क निम्न हैं -

1. स्मृति स्वरूप में उत्पन्न भ्रम को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि हम संस्कार विशेष से उत्पन्न होने वाले तथा अनुभूत अर्थ को विषय कराने वाले इस प्रकार रूप प्रकट करने वाले ज्ञान को स्मृति मानते हैं। यह स्मृति अन्य ज्ञानों से भिन्न होता है। पूर्वज्ञान का प्रबल संस्कार स्मृति का कारण होता है जब कि प्रत्यक्ष

आदि ज्ञान चक्षु आदि कारणों से उत्पन्न होता है। स्मृति का विषय अनुभूत पदार्थ है। जबकि प्रत्यक्ष आदि ज्ञान चक्षु आदि कारणों से उत्पन्न होता है। स्मृति का विषय अनुभूत पदार्थ है। जबकि प्रत्यक्ष आदि का विषय वर्तमान पदार्थ है। इस प्रकार कारण भेद, स्वरूप, भेद और विषय भेद से स्मृति प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भिन्न स्वरूप रखती है।

2. स्मृति को प्रमाण न मानने के चार संभावित कारणों पर विचार करते हुये जैनाचार्य कहते हैं -

अ) स्मृति ग्रहीत वस्तु को ग्रहण करती है इसलिये प्रमाण नहीं है अथवा

ब) स्मृति का कोई विशेष विषय नहीं है इसलिये प्रमाण नहीं है अथवा

स) अतीत असत् वस्तु को विषय करने के कारण से अप्रमाण है अथवा

द) वह स्मृति अर्थ से उत्पन्न नहीं होती है इसलिये अप्रमाण है ? अथवा

इ) स्मृति भ्रान्त होती है इसलिये अप्रमाण है अथवा

फ) स्मृति संशय आदि समारोप को नष्ट नहीं करती है इसलिये अप्रमाण है ? अथवा

ग) स्मृति से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है इसलिये अप्रमाण है ?

उक्त सात विकल्पात्मक प्रश्नों का उत्तर निम्न प्रकार से देते हुये जैनाचार्य क्रमशः कहते हैं -

1. गृहीत वस्तु को ग्रहण करने के कारण स्मृति को अप्रमाण मानने पर अनुमान से जानी हुई अग्नि को पीछे प्रत्यक्ष से जानने पर वह प्रत्यक्ष भी अप्रमाण सिद्ध हो जायेगा क्योंकि वह भी गृहीत वस्तु को ही ग्रहण करता है। इसमें कोई अपूर्वता रहती है इसलिये स्मृति को अप्रमाण नहीं माना जा सकता है।

2. पहले से रखी हुई वस्तु को विचारित वस्तु या पठित वस्तु का स्मरण करना स्मृति का कार्य है। यह कार्य स्मृति के सिवाय किसी अन्य प्रमाण से नहीं हो सकता है अतः स्मृति प्रमाण है।

3. तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस अतीत वस्तु को स्मृति से जाना जाता है वह अतीत वस्तु स्वकाल में असत् है या स्मृतिकाल में ? स्वकाल में तो वह असत् नहीं है क्योंकि अतीत काल में वह वस्तु विद्यमान थी और स्मृति काल में विषयभूत अर्थ के अविद्यमान होने से स्मृति अप्रमाण नहीं होती है। ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष भी अप्रमाण ठहरेगा। क्योंकि बौद्ध प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ को प्रत्यक्षकाल में सत् नहीं मानते हैं। अतः विद्यमान को मानने के कारण प्रत्यक्षा भी अप्रमाण ठहरता है।

4. यदि अर्थ से उत्पन्न न होने के कारण स्मृति को अप्रमाण मानते हैं तो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण ठहरेगा। क्योंकि प्रत्यक्ष काल में बौद्ध मतानुसार अर्थ के न रहने से प्रत्यक्ष भी उत्पन्न नहीं होता है। तथा अर्थज्ञान का कारण नहीं है, यह पहले भी कह आये हैं अतः यह आपत्ति भी उचित नहीं है।

5. भ्रान्त होने से स्मृति को अप्रमाण मानना अनुचित है। क्योंकि स्मृति निभ्रान्त होती है। स्मृति में भ्रान्ति पायी भी जाये तो उसे स्मृत्याभास माना जा सकता है। जिस तरह से प्रत्यक्ष में भ्रान्ति होने पर उसे प्रत्यक्षाभास कहा जा सकता है।

6. स्मृति समारोप को दूर नहीं करती है यह तर्क भी अनुचित है क्योंकि स्मृति के विषयभूत अर्थ में विपरीत आरोप का प्रवेश संभव नहीं है।

7. स्मृति से कोई प्रयोजन नहीं सधता है यह बात भी निराधार है। क्योंकि अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति स्मृति प्रमाण से ही संभव होती है। अतः अनुमान प्रमाण में कारणभूत प्रमाण का निषेध नहीं किया जा सकता है। स्मृति प्रमाण के बिना अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता है। अतः स्मृति को एक स्वतंत्र प्रमाण मानना चाहिये।



## अर्थापत्ति प्रमाण को पृथक् प्रमाण मानने में आपत्ति

मीमांसक दर्शन ने प्रमाणों की शृंखला में एक अर्थापत्ति प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण माना है। वे अर्थापत्ति का स्वरूप एवं लक्षण सभी प्रमाणों से अलग ही निर्धारित करते हैं। मीमांसक चिंतकों के अपने तर्क है वे यहाँ दृष्टव्य है।

1) अर्थापत्ति का स्वरूप - प्रत्यक्षादि से जाना गया या सुना गया अर्थ जो जिसके बिना न हो सके उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। अर्थापत्ति के 6 प्रकार होते हैं।

अ. प्रत्यक्ष पूर्वक अर्थापत्ति - प्रत्यक्ष से अग्नि का जलाना रूप कार्य देखकर यह कल्पना करना कि अग्नि में जलाने की शक्ति है अन्यथा वह जल नहीं सकती है यह प्रत्यक्ष पूर्वक अर्थापत्ति है।

ब. अनुमान पूर्वक अर्थापत्ति - सूर्य को एक जगह से दूसरी जगह देखकर अनुमान से जानी हुई सूर्य की गति के आधार पर कल्पना करना कि सूर्य में गमन करने की शक्ति है यह अनुमान पूर्वक अर्थापत्ति है।

स. उपमानपूर्वक अर्थापत्ति - उपमान प्रमाण गवय सादृश्य विशिष्ट गौ को जानकर उसके आधार पर यह कल्पना करना कि सादृश्य विशिष्ट गौ में उपमान प्रमाण के द्वारा ग्राह्य होने की शक्ति है। अन्यथा वह उपमान प्रमाण से ग्राह्य नहीं हो सकता है। यह उपमान पूर्वक अर्थापत्ति है।

द. अर्थापत्ति पूर्वक अर्थापत्ति - यदि शब्द में वाचक शक्ति न होती है तो शब्द से अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती थी। इस अर्थापत्ति से शब्द में वाचक शक्ति जानकर उसके आधार पर शब्द नित्यता की कल्पना करना अर्थापत्ति पूर्वक अर्थापत्ति है।

इ. श्रुत पूर्वक अर्थापत्ति - मोटा देवदत्त नहीं खाता है सुनकर वह रात में खाता है कि कल्पना करना श्रुत अर्थापत्ति है।

**फ. अभावपूर्वक अर्थापत्ति** - जीवित गौतम को घर में न देखकर कल्पना करना कि वह बाहर गया है यह अभाव पूर्वक अर्थापत्ति है।

2. ये अर्थापत्तियाँ अतीन्द्रिय शक्ति को विषय करती हैं। अतः अर्थापत्ति स्वतंत्र प्रमाण है।

3. शक्ति को प्रत्यक्ष नहीं जाना जा सकता है क्योंकि अतीन्द्रिय है।

4. अर्थापत्ति को अनुमान से नहीं जाना जा सकता है क्योंकि जिसमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती है उसमें अनुमान की प्रवृत्ति कैसे संभव है ?

5. अर्थापत्ति अनुमान नहीं है क्योंकि अनुमान की सामग्री (पक्ष धर्मता) अर्थापत्ति में नहीं पायी जाती है।

मीमांसक विचारकों के तर्कों से असहमत होते हुये जैनाचार्य अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण मानने को तैयार नहीं होते हैं वे अर्थापत्ति को अनुमान के अंतर्गत मानते हुये अपने तर्कप्रस्तुत करते हैं। वे तर्क निम्न हैं -

**तर्क 1** - प्रत्यक्षादि से जाने गये अथवा सुने गये अर्थ अन्यथानुपत्ति के आधार पर अदृष्ट कल्पना की जाती है। वह कल्पना दृष्ट अथवा श्रुत अर्थ साध्य के साथ संबद्ध है अथवा असंबद्ध।

अ) यदि असंबद्ध है तो वह उस अदृष्ट कल्पना का कारण कैसे हो सकती है क्योंकि जिस किसी पदार्थ को देखकर जिस किसी पदार्थ की कल्पना नहीं की जा सकती है अन्यथा बड़ी गड़बड़ी हो जायेगी।

ब) यदि वह (कल्पना) अपने साध्य के साथ संबद्ध हो तो उससे होने वाला ज्ञान अनुमान ही होगा क्योंकि अपने साध्य के सम्बद्ध होने का नाम ही अविनाभाव है। जो-जो ज्ञान अविनाभाव होता है वह अनुमान ही है। अतः जब अर्थापत्ति अविनाभाव से उत्पन्न होगी तो अनुमान ही सिद्ध हुई।

**तर्क 2** - वह दृष्ट अथवा श्रुत अपने साध्य से संबद्ध होते हुये भी संबद्ध रूप से ज्ञात होने से अदृष्ट अर्थ की कल्पना में निमित्त होता है अथवा अज्ञात होने पर भी।

अ) अज्ञात होने पर तो अदृष्ट अर्थ की कल्पना में निमित्त नहीं हो सकती है अन्यथा अज्ञातजन की कल्पना कर सकेंगे।

ब) यदि ज्ञात होने पर वह अदृष्ट अर्थ कल्पना में निमित्त होता है तो साध्य का ज्ञान करने के समय में ही वह अर्थ अपने साध्य के साथ संबद्ध रूप से जाना जाता है अथवा पहले।

अ पक्ष में वह अर्थ अपने साध्य के साथ संबद्ध रूप से प्रमाणान्तर से जानाजाता है। अथवा उसी प्रमाण से जाना जाता है पहले विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि साध्य का ज्ञान करते समय उसके संबंध को ग्रहण करने वाला प्रमाणान्तर संभव नहीं है यदि संभव है तो साध्य की सिद्धि भी उसी प्रमाणान्तर से हो जायेगी और अर्थापत्ति की फिर कोई आवश्यकता नहीं रहेगी यदि अर्थापत्ति मान भी ली जाये तो वह अनुमान से भिन्न नहीं है क्योंकि वह ऐसे हेतु से उत्पन्न होती है जिसका अपने साध्य के साथ प्रमाणान्तर से जाना जाता है और जो ऐसे हेतु उत्पन्न होता है वह अनुमान ही है।

**तर्क 3** - यदि दृष्टि अथवा श्रुत अर्थ को अपने साध्य के साथ संबद्ध रूप से अर्थापत्ति ही जानती है तो अन्योन्याश्रय आता है।

**स्पष्टीकरण** - अर्थापत्ति के सिद्ध होने पर अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ की अपने साध्य के साथ संबद्ध रूप से व्यक्ति सिद्ध हो और उसके सिद्ध होने पर अर्थापत्ति की सिद्धि हो।

**तर्क 4** - यदि अर्थापत्ति का उत्थापक अर्थ अपने साथ संबद्ध रूप से पहले ही जान लिया जाता है तो साध्य धर्मी में जाना जाता है अर्थात् दृष्टान्त धर्मी से।

अ) साध्य धर्मी में उत्थापक अर्थ मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि मीमांसक अर्थापत्ति के संबंध का ज्ञान दृष्टान्त में होना स्वीकार नहीं करते हैं दूसरे अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ का अपने साध्य के साथ संबंध का ज्ञान यदि दृष्टान्त में होता है तो बार-बार दर्शन होता है।

**तर्क 5** - जैन साध्य साधन के संबंध का ज्ञान तर्क प्रमाण से कर लेते हैं यदि मीमांसक यही ज्ञान तर्क से करते हैं तो प्रमाण की संख्या बढ़ जाती है।

**तर्क 6** - प्रत्यक्ष पूर्वक आपत्ति का ज्ञान बाधित होता है उसमें अनुपत्ति का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है अन्वय और व्यतिरेक में ही धर्म है ऐसी स्थिति में अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न कैसे हो सकती है क्योंकि फफोले आदि कार्य को देखकर उसके कारण की सिद्धि अर्थापत्ति से नहीं होती अर्थात् अनुमान से होती है इसी तरह अनुमान और अर्थापत्ति उपमान पूर्वक अर्थापत्ति का भी निषेध समझना चाहिये।

**तर्क 7** - अर्थापत्ति पूर्वक अर्थापत्ति भी उचित नहीं है क्योंकि शब्द अनित्य होते हुये भी वाचक हो सकता है।

**तर्क 8** - श्रुत अर्थापत्ति अनुमान ही क्योंकि उसमें अनुमान ही है कार्य से कारण का ज्ञान किया गया है इसी तरह जो अभाव अर्थापत्ति कही है वह अनुमान ही है क्योंकि घर में नहीं है इस हेतु से जीवित गौतमका बाहर होना सिद्ध होता है।

**तर्क 9** - अर्थापत्ति में अनुमान से विपरीत नहीं पायी जाती है क्योंकि अनुमान का लक्षण अर्थापत्ति में भी पाया जाता है भले ही वह गमक का विशेषण हो अथवा गम्य का इतने मात्र से अर्थापत्ति और अनुमान में भेद नहीं हो सकता है अन्यथा पक्ष धर्मत्व अर्थापत्ति से पक्ष धर्मत्व को भी एक अलग प्रमाण मानना पड़ेगा अतः अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं है।



## अनुमान प्रमाण की आवश्यकता

प्रत्येक भारतीय दर्शन अनुमान प्रमाण को अवश्य मानता है किन्तु एक मात्र चार्वाकदर्शन ऐसा है जो अनुमान प्रमाण की आवश्यकता को नकारता है। उस दर्शन को कुछ तर्क है जो अनुमान प्रमाण को अस्वीकार करने का समर्थन करते हैं वे तर्क निम्न हैं -

1. अनुमान से अर्थ का निश्चय नहीं होता है।

2. व्याप्ति ग्रहण होने के बाद अनुमान की प्रवृत्ति होती है, व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से तो संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो निकटवर्ती पदार्थ ही ग्रहण करता है। अतः वह समस्त पदार्थों को लेकर व्याप्ति ग्रहण करने में असमर्थ है।

3. अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण संभव नहीं है क्योंकि अनुमान व्याप्ति ग्रहणपूर्वक होता है। अतः अनुमान से व्याप्ति ग्रहण मानने पर अनवस्था दोष एवं इतरेतराश्रय दोष आते हैं।

4. अन्य कोई प्रमाण व्यक्ति का ग्राहक नहीं है, तब अनुमान प्रमाण कैसे संभव होगा ?

निष्कर्ष - अतः एक मात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है अनुमान नहीं।

चार्वाकदर्शन के विद्वानों द्वारा अनुमान के अप्रमाण सिद्ध करने वाले तर्कों को जैनाचार्यों ने मूलतः ही अस्वीकार करने योग्य कहते हुये अपने ठोस तर्क कुछ निम्न प्रकार से दिये -

1. चार्वाकों का उक्त कथन विचारपूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण की तरह अनुमान प्रमाण भी अविस्वादाक होता है। अनुमान के द्वारा जाने गये विषय में विस्वादाक का अभाव होता है।

2. अनुमान को गौण क्यों माना जाये ? (अ) उसका विषय प्रत्यक्ष पूर्वक होता है इसलिये अथवा (ब) उसका विषय गौण होता है इसलिये अ विकल्प ठीक होता है क्योंकि कोई प्रत्यक्ष भी अनुमानपूर्वक होते हैं। अतः वे प्रत्यक्ष भी गौण कहलायेंगे क्योंकि दूर से अनुमान से अग्नि को जानकर जब व्यक्ति अग्नि के पास जाता है तो प्रत्यक्ष से अग्नि को जानता है। (ब) का पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष की तरह अनुमान का विषय भी वास्तविक सामान्य-विशेषात्मक है।

3. जैन, बौद्धों की तरह अनुमान का विषय कल्पित सामान्य नहीं मानते हैं।

4. हम व्याप्ति का ग्रहण तर्क प्रमाण से मानते हैं।



5. तर्क प्रमाण के बिना मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि चार्वाक भी नहीं कर सकते हैं।

6. अनुमान प्रमाण के बिना अतिन्द्रिय परलोक आत्मा स्वर्ग आदि का अभाव कैसे सिद्ध करेंगे?

7. परलोक आदि का निषेध करने से प्रत्यक्ष भिन्न प्रमाणान्तर का अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः अनुमान प्रमाण की आवश्यकता सिद्ध होती है।



## एक हेतु अनुमान अवयववाद (बौद्ध)

बौद्ध दर्शन अनुमान के अवयव के अतर्गत मात्र हेतु को ही स्वीकार करता है, वह पक्ष प्रयोग को प्रयोजन रहित मानता है। अपनी इस मान्यता का औचित्य सिद्ध करने के लिये कुछ तर्क देता है वे इस प्रकार से हैं - तर्क

1. केवल हेतु के प्रयोग करने से गम्यमान पक्ष में साध्य का बोध स्वयं हो जाता है।

2. संभवत कोई कहे कि पक्ष का प्रयोग करने से साध्य की प्रतिपत्ति होती है अतः पक्ष का प्रयोग ठीक ही है और निः प्रयोजन नहीं हैं, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं हैं; क्योंकि पक्ष के कहने से साध्य की प्रतिपत्ति संभव नहीं होती है यदि संभव है, तो केवल पक्ष के कहने से ही साध्य अर्थ का बोध हो जाता है अथवा हेतु सहित पक्ष के कहने से साध्य का बोध होता है। यदि केवल पक्ष के कहने से साध्य अर्थ का बोध होता है तो हेतु कहना व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि प्रतिज्ञा माननी चाहिये। अतः प्रतिज्ञा का प्रयोग व्यर्थ है।

जैनपक्ष बौद्ध विचारकों के तर्क सुनने के बाद जैनाचार्य उत्तर देते हुये प्रतिज्ञा और हेतु को अनुमान मानते हुये अपने प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। वे तर्क इस तरह के हैं -

1) बौद्ध लोग पक्ष प्रयोग को अनावश्यक क्यों मानते हैं ? उनके संभावित कारण और उनमें आनेवाली आपत्ति बाधा की तालिका इस प्रकार से हैं -

क्र. कारण	बाधा
1. क्या वह साध्य की सिद्धि में रुकावट डालता है।	यह कारण ठीक नहीं माना जा सकता है क्योंकि जब वादी सम्यक् माध्यम द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि करता है। तो पक्ष का प्रयोग साध्य की सिद्धि में रुकावट नहीं डाल सकता है।
2. प्रकरण से ही पक्ष प्रयोग की सिद्धि होती है।	यह विकल्प भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि प्रकरण से जैसे पक्ष के प्रयोग का ज्ञान स्वयं हो जाता है, वैसे ही हेतु आदि का ज्ञान भी स्वयं हो जाता है। अतः अनुमान में हेतु का प्रयोग भी नहीं करना चाहिये।
3. पक्ष का प्रयोग प्रयोजन	यह कथन भी सिद्ध नहीं होता है; क्योंकि पक्ष का प्रयोग करने से सुनने समझने वाले को विशेष बोध होता है। यही पक्ष का प्रयोजन है।
4. इस हेतु के प्रयोग से प्रयोजन का साधक है इसलिये अनावश्यक है।	प्रतिज्ञा के प्रयोग के बिना उसे प्रकृत अर्थ का विशेष ज्ञान नहीं होता है। यदि प्रतिज्ञा व्यर्थ है तो हेतु भी व्यर्थ होगा।

3) यदि प्रतिज्ञा का प्रयोग व्यर्थ सिद्ध होता है तो हेतु का प्रयोग भी व्यर्थ सिद्ध होगा।

4) यदि पक्ष का कथन न किया जायेगा तो हेतु में अनेकांतिक दोष भी हो सकते हैं। क्योंकि पक्ष/प्रतिज्ञा के बिना हेतु के गुण दोषों का वास्तविक विचार नहीं किया जा सकता है।

5) यदि केवल पक्ष से ही साध्य का प्रतिपादन हो जायेगा तो हेतु का प्रयोग व्यर्थ है यह बौद्ध का कथन ठीक नहीं हैं क्योंकि कोई भी कारण अकेले कार्य नहीं कर सकता है।

6) साध्य की सिद्धि पक्ष हेतु की अपेक्षा करता है अतः वह साध्य की सिद्धि में कारण नहीं हैं, इस तरह बौद्ध के कथन में सबसे बड़ी बाधा यह आती है कि बौद्धों

के द्वारा कल्पित निर्विकल्प प्रत्यक्ष अर्थ की सिद्धि में सविकल्प प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है अतः निर्विकल्प प्रत्यक्ष को भी अर्थ की सिद्धि में कारण नहीं मानना चाहिये।

7) यदि पक्ष नहीं माना जायेगा तो सपक्ष विपक्ष की व्यवस्था कैसे बनेगी ? क्योंकि सपक्ष विपक्ष की व्यवस्था पक्ष पूर्वक ही बनती है।

8) पक्ष का प्रयोग यदि अनुचित है वो शास्त्र आदि में उसका प्रयोग नहीं होना चाहिये।

9) वाद में भी प्रतिज्ञा का प्रयोग होना चाहिये, क्योंकि वाद में भी वाद करने वाले दूसरों का उपकार करने के लिये प्रवृत्त होते हैं।

**निष्कर्ष** - हेतु की तरह पक्ष या प्रतिज्ञा का प्रयोग आवश्यक है।



## पंच अवयवी अनुमानवाद की समीक्षा (न्याय)

न्याय दर्शन में अनुमान के पाँच अवयव हैं। बौद्धदर्शन एक मात्र हेतु को अवयव स्वीकार करता है। जैनदर्शन दो अवयवों को स्वीकार करता है। न्याय दर्शन के अनुसार निम्न है -

- |               |           |            |
|---------------|-----------|------------|
| 1. प्रतिज्ञा, | 2. हेतु,  | 3. उदाहरण, |
| 4. उपनय,      | 5. निगमन। |            |

1) **प्रतिज्ञा**- साध्य विशिष्ट पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे- यह पर्वत अग्नि वाला है।

2) **हेतु**- साधन के कहने को हेतु कहते हैं। जैसे - क्योंकि धूम वाला है।

3) **उदाहरण**- व्याप्ति पूर्वक दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं। जैसे - जो धूम वाला होता है वह वह अग्नि वाला होता है। जैसे - रसोई घर जो अग्नि वाला नहीं होता है, वह वह धूम वाला नहीं होता है। जैसे - तालाब इनमें रसोईघर अन्वय रूप उदाहरण है। तालाब व्यतिरेकी दृष्टान्तरूप उदाहरण है।

4) **उपनय**- पक्ष हेतु के दोहराने को उपनय कहते हैं। जैसे - यह पर्वत भी उसी धूमवाला है।

5) **निगमन** - नतीजा निकलकर प्रतिज्ञा के दोहराने को निगमन कहते हैं। जैसे- इसलिये अग्नि वाला है। अनुमान का पूरा प्रयोग होता है। यह पर्वत अग्नि वाला है। क्योंकि धूमवाला है। जैसे रसोई घर उसी तरह यह भी धूम वाला है इसलिये अग्नि वाला है।

जैनाचार्यों ने अनुमान के दो अवयव ही स्वीकार किये हैं - एक प्रतिज्ञा और दूसरा हेतु। जैनाचार्यों का मानना है कि अनुमान प्रयोग काल में अंत के तीन अवयव आवश्यक होते हैं किन्तु अल्प बुद्धि जन को समझाने के लिये शेषतीन अवयव को प्रयोग किया जा सकता है। अतः इसे न्याय दर्शन के पाँच अवयव जैनाचार्यों को मान्य नहीं है और मान्य भी है।



## सांख्य मान्य सप्त भेद हेतु वाद की समीक्षा

सांख्य दर्शन ने हेतु के सप्त भेद बताते हुये अपना मत स्थापित किया है। उनके द्वारा हेतु सात प्रकार के इस तरह है -

1. **मात्र मात्रिक का अनुमान** - जैसे चक्षु के ज्ञान का अनुमान करना।
2. **कार्य से कारण का अनुमान** - जैसे बिजली को क्षणिक देखकर उसके कारण का अनुमान करना।
3. **कार्यविरोधी** - प्रकृति विरोधी के दर्शन से विरोधी का अनुमान जैसे बादल नहीं बरसेगा क्योंकि हवा प्रतिकूल है।
4. **सहचर का अनुमान** - चकवे युगल को देखकर, एक को देखकर दूसरे का अनुमान।
5. **स्वस्वामी** - स्व को देखने से स्वामी का अनुमान, छत्र विशेष को देखकर राजा का अनुमान।

6. बध्य घात का अनुमान - नेवले को प्रसन्न देखकर सर्प के मारे जाने का अनुमान।

7. संयोगी अनुमान - हाथ में त्रिदंड देखकर परिव्राजक का अनुमान।

जैनपक्ष न्यायदर्शन के 5 हेतुवाद की तरह सांख्य मान्य सप्त हेतुवाद भी खंडित हो जाता है। सांख्य के इस वाद को निरासन करने के लिये आत्मशोधक निम्न तर्क देते हैं।

तर्क 1 - इन 7 हेतुओं के अतिरिक्त भी हेतु हो सकते हैं।

तर्क 2 - अविनाभाव होने से ही हेतु होता है न कि कारण होने से, क्योंकि कारण रूप तो सब हेतुओं में नहीं पाई जाती हैं।

तर्क 3 - अविनाभाव सब हेतुओं में पाया जाता है।

तर्क 4 - जो हेत्वाभास होते हैं, उनमें अविनाभाव नियम नहीं पाया जाता है।

तर्क 5 - अविनाभाव के नियम से ही हेतु साध्य का गमक होता है।

तर्क 6 - अविनाभाव के बिना कोई हेतु साध्य का साधक नहीं होता है।

तर्क 7 - अविनाभाव के होने पर ही सर्वत्र हेतुओं में गमकता देखी जाती है।

निष्कर्ष - सांख्य मान्य सप्त हेतु भेद वाद का औचित्य सिद्ध नहीं होता है।



### पंचहेतु भेदवाद की समीक्षा (न्याय)

1. न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन के विचारकों ने हेतु के पाँच भेद मान्य किये हैं, उनके अनुसार हेतु के 5 भेद हैं-

1. कारण हेतु
2. कार्य हेतु
3. संयोगी हेतु
4. समवायी हेतु

5. विरोधी हेतु।

ये 5 हेतु अनुमान के अंग वे मानते हैं - इन्हीं में अविनाभाव नियम पाया जाता है।

इन पाँच हेतुओं के उदाहरण निम्न हैं -

1. कारण से कार्य का अनुमान - जैसे जलते ईंधन को देखकर राख का अनुमान करना।

2. कार्य से कारण का अनुमान करना - नदी में बाढ़ देखकर वर्षा का अनुमान करना।

3. संयोगी के दर्शन से संयोग का अनुमान - जैसे धूम देखने से अग्नि का अनुमान करना।

4. समवायी के दर्शन से समवायी का अनुमान - शब्द से आकाश का अनुमान करना।

5. विरोधी के देखने से विरोधी का अनुमान करना - जैसे नेवले के खड़े बाल देखकर सर्प का अनुमान करना।

जैनाचार्यों ने न्यायदर्शन एव वैशेषिक दर्शन के विद्वान के द्वारा मान्य 5 हेतु भेदों को अमान्य करते हुये अपने तर्क इस तरह दिये -

1. क्योंकि 5 हेतुओं के अतिरिक्त कृतिकोदय आदि हेतुओं को अनुमान का अंग बतलाया है।
2. अविनाभाव नियम के होने से ही हेतु अनुमान का अंग होता है न कि कार्य आदि के होने से। कारणादि रूपता सब हेतुओं में नहीं पायी जाती है।
3. अविनाभाव नियम सब हेतुओं में पाया जाता है।
4. जो हेत्वाभास है, उनमें अविनाभाव का नियम नहीं पाया जाता है।
5. अविनाभाव नियम से ही हेतु साध्य का गमक होता है।

6. अविनाभाव के बिना कोई साध्य का साधक नहीं होता है।

7. अविनाभाव के होने पर सर्वत्र हेतुओं में गमकता देखी जाती है।

निष्कर्ष - अतः पंच हेतु भेदवाद न्यायदर्शन का उचित नहीं है।



## त्रिलक्षण हेतु रूपवाद की समीक्षा (बौद्ध)

बौद्धदर्शन के अनुयायियों ने हेतु के लक्षण साध्याविनाभावी स्वीकार नहीं करते हुये, हेतु के तीन लक्षण मान्य किये हैं, 1. पक्षधर्मत्व, 2. सपक्ष सत्व, 3. विपक्ष असत्व। ये तीन लक्षण जिसमें पाये जाये वही सम्यक् हेतु हैं।

जहाँ साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव दिखाया जाये उसे सपक्ष कहते हैं, जैसे - रसोईघर।

जहाँ साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जाये उसे विपक्ष कहते हैं जैसे - तालाब।

तर्क 1. - पक्ष में हेतु रहने से असिद्धता का दोष नहीं रहता, सपक्षता में हेतु के रहने पर विरुद्धता दोष नहीं रहता एवं विपक्ष में हेतु नहीं रहने से अनेकांतिक दोष नहीं रहता।

निष्कर्ष - अतः त्रिदोष से दूर त्रिलक्षणयुक्त हेतु ही ठीक होता है।

जैनाचार्य को यह त्रिलक्षण युक्त हेतु मान्य नहीं रहा, उन्होंने त्रिलक्षण हेतु के विरोध में अपने तर्क इस प्रकार दिये -

**तर्क 1** - ये त्रिरूप्य लक्षण सदोष हेतु में भी पाये जाते हैं जैसे - अग्नि का लक्षण सत् - ठीक नहीं हैं, क्योंकि सत् प्रत्येक पदार्थ में पाया जाता है। पक्षधर्म आदि हेत्वाभास में भी रह जाता है। अतः वह हेतु का लक्षण नहीं हो सकता है।

**तर्क 2** - त्रिरूप्य की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि त्रैरूप्य के बिना भी

अविनाभाव रूप नियम के होने से ही हेतु अपने साध्य की सिद्धि करने में समर्थ सिद्ध होता है। जैसे - रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि कृतिका का उदय हो चुका है, इस अनुमान में पक्षधर्मता नहीं है।

**तर्क 3** - आकाश में रोहणी का उदय होगा क्योंकि वह कृतिका उदय से युक्त है, ऐसा कहने पर पक्षधर्मता बौद्ध भले ही कहे, किन्तु ऐसा कहने पर तो सभी हेतु के पक्षधर्मता बन जायेगी, जगत को पक्ष बनाकर मकान को सफेद सिद्ध करने के लिये कौवे के कालेपन को भी हेतु बनाकर उसमें पक्षधर्मता की कल्पना की जा सकती है, जैसे - यह जगत् सफेद मकान वाला है। अतः पक्षधर्मता हेतु का लक्षण नहीं हो सकता है।

**तर्क 4** - सपक्षधर्मता हेतु का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे बहुत से हेतु हैं जो सपक्ष में नहीं रहते फिर भी साध्य की सिद्धि करने में समर्थ हैं जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह सुनाई देता है। विपक्ष असत्व लक्षण भी हेतु का कारण नहीं हो सकता है।

**तर्क 5** - साध्य के साथ अविनाभाव नियम में बद्ध होने के कारण ही गमक होते हैं तो अविनाभाव को ही हेतु का लक्षण मानना चाहिये।

**तर्क 6** - अन्यथानुपपत्ति नियम के होने से ही हेतु में असिद्धता दोष आदि नहीं रहते।

**तर्क 7** - विपक्ष असत्व हेतु का मुख्य लक्षण है, उसे ही अन्यथानुपपत्ति कहते हैं।

**तर्क 8** - जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ त्रिरूप्यलक्षण का क्या प्रयोजन। जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ त्रिरूप्यलक्षण का क्या प्रयोजन ?

**निष्कर्ष** - त्रिरूप्य लक्षण हेतु के स्थान पर एक मात्र अन्यथानुपपत्ति लक्षण ही उचित है।



## द्विहेतु भेदवाद की समीक्षा (बौद्ध)

बौद्धों का कहना है कि अविनाभाव के बल से ही हेतु अपने साध्य की सिद्धि करने में साधक सिद्ध होता है। यह बात ठीक है किन्तु अविनाभाव नियम उन्हीं में लागू होता है जिनमें तादात्म्य तदुत्पत्ति संबंध होता है। अतः पहला कार्य हेतु और दूसरा स्वभाव हेतु दो प्रकार के हेतु होते हैं। अनुपलब्धि रूप हेतु तथा उपलब्धि रूप हेतु का अंतर्भाव स्वभाव हेतु में होता है। अतः कारण हेतु और स्वभाव हेतु दो ही हेतु के भेद मान्य होना चाहिये अपने इस वाद के समर्थन में बौद्ध के कुछैक तर्क इस प्रकार है।

**तर्क 1-** अनुपलब्धि रूप हेतु का अंतर्भाव स्वभाव हेतु में हो जाने से हेतु के दो ही भेद होते हैं।

**तर्क 2 -** अविनाभाव का ग्रहण तर्क ज्ञान से होता है यह भी ठीक नहीं हैं; क्योंकि कार्य हेतु के अविनाभाव की प्रतीति प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ के 5 बार होने से हो जाती है।

**तर्क 3 -** स्वभाव हेतु की व्याप्ति विपक्ष में बाधक प्रमाण के होने से प्रतीत होती है। जैसे सत्व की क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति प्रतीत होती है।

**तर्क 4 -** सत्व का लक्षण अर्थ क्रियाकारित्व है और नित्य पदार्थ में क्रम और युगपत् दोनों रूप से अर्थ क्रिया नहीं हो सकती है क्षणिक पदार्थ ही सत् है।

**तर्क 5 -** अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही नियत है। अतः हेतु के दो ही भेद बनते हैं कार्य हेतु और स्वभाव हेतु।

जैनाचार्य बौद्ध के द्विहेतु वाद को अस्वीकार करते हुये कहते हैं दो हेतु के सिवाय कारण हेतु तो स्वीकार करना ही होगा। इस पक्ष को खंडित करने के लिये के अपने तर्क निम्न देते हैं -

**तर्क 1-** अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नियत है यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि तादात्म्य अविनाभाव नियम का निमित्त नहीं होता है। संबंध उन्हीं में होता है जिनमें भेद होता है और तादात्म्य में भेद होता नहीं है। अतः संबंध नहीं हो सकता है।

**तर्क 2 -** यदि साध्य और साधन में तादात्म्य होने से साधन साध्य का गमक होता है तो जिस समय हेतु का ग्रहण होता है उसी समय हेतु से अभिन्न साध्य की प्रतीति हो जायेगी फिर अनुमान की आवश्यकता नहीं रहती।

यदि कहा जाये की विपरीत समारोप का नाश करने के लिये अनुमान की आवश्यकता होती है। तो प्रश्न पैदा होता है कि समारोप की उत्पत्ति हेतु को जान लेने के बाद होती है या हेतु के बिना जाने ही समारोप की उत्पत्ति होती है। पहले पक्ष में बाधा यह आती है कि जब हेतु को जान लिया तब विपरीत समारोप की जगह कहाँ रहती है? हेतु को बिना जाने विपरीत समारोप का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि विपरीत समारोप तो जानने के बाद ही होता है।

**तर्क 3 -** तादात्म्य होने से हेतु साध्य का गमक नहीं होता है, अपितु अविनाभाव से ही हेतु साध्य का गमक होता है।

**तर्क 4 -** अविनाभाव न तो तादात्म्य से नियत होता है और न तदुत्पत्ति से।

**तर्क 5 -** जिनमें तादात्म्य और तदुत्पत्ति संबंध हो उनमें ही अविनाभाव नियम मानते हैं तो कृतिका नक्षत्र और रोहिणी नक्षत्र के उदय में चंद्रोदय और समुद्र वृद्धि में साधन साध्य भाव कैसे बनेगा? क्योंकि इनमें न तो तादात्म्य संबंध है और न तदुत्पत्ति संबंध है।

**तर्क 6 -** प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से अविनाभाव की प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि बौद्ध का प्रत्यक्ष निर्विकल्प रूप है। अतः वह व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकता है। अनुपलम्भ पदार्थान्तर के उपलम्भ स्वरूप होने से व्याप्ति को ग्रहण नहीं कर सकता है।



**तर्क 7** - स्वभाव हेतु की व्याप्ति विपक्ष में बाधक प्रमाण के बल से जानी जाती है। यह कथन ठीक नहीं है, सब क्षणिक सत् है, इस अनुमान में सत् है, यह स्वभाव हेतु है। तथा वहाँ पर विपक्ष नित्य है।

**तर्क 8** - तादात्म्य और तदुत्पत्ति संबंध के अभाव में भी अविनाभाव के बल से हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होता है। जैसे - वहाँ छाया है, क्योंकि वृक्ष है। अथवा अंधेरे में आम खाने पर रस के स्वाद से आम का अनुमान करना।

**तर्क 9** - कारण से कार्य का अनुमान होता है यह मानने पर कारण हेतु मानना ही पड़ता है, तब बौद्ध मान्य द्विहेतुवाद खंडित हो जाता है।



### पंचरूप हेतु लक्षणवाद की समीक्षा

योगदर्शन हेतु लक्षण को 5 रूप माना है उनके हेतु 5 लक्षण इस तरह से हैं -

1. **पक्ष धर्मत्व** - जहाँ साध्य की सिद्धि की जाती है वह पक्षधर्मत्व है।
2. **सपक्ष सत्व** - जहाँ साध्य के सद्भाव में साध्य का सद्भाव दिखाया जाये वह सपक्ष धर्मत्व है। जैसे रसोईघर।
3. **विपक्ष असत्व** - जहाँ साधन के अभाव में साध्य का अभाव दिखाया जाये, वह विपक्ष असत्व है। जैसे तालाब।
4. **अबाधित विषयत्व** - हेतु का साध्य किसी प्रमाण से बाधित न हो वह अबाधित विषयत्व है।
5. **असत् प्रतिपक्षत्व** - जिसका कोई प्रतिपक्ष न हो उसे असत् प्रतिपक्ष कहते हैं। अविनाभाव के अभाव के बिना कोई हेतु बाधित विषय नहीं हो सकता है। बाधित विषय और अविनाभाव है परस्पर में विरोध है।

- साध्य के सद्भाव में ही हेतु के पक्ष में रहना अविनाभाव है।

- साध्य के अभाव में हेतु का रहना बाधित विषय है।

इस तरह 5 लक्षण युक्त हेतु ही साध्य का गमक होता है।

जैनाचार्य अपना प्रस्तुत करते हुये तर्क देते हैं -

**तर्क 1** - यहाँ विचारणीय है कि असत् प्रतिपक्ष से तुल्य बल वाले प्रतिपक्ष का निषेध इष्ट है अथवा अतुल्य बल वाले प्रतिपक्ष का निषेध इष्ट है। यदि पहले विकल्प को मानते हैं तो बाध्य बाधक भाव नहीं हो सकता है। क्योंकि जो समान बल वाले होते हैं उनके बाध्य बाधक भाव नहीं होता। यदि प्रतिपक्ष में अतुल्य बल है तो कारण क्या कि अतुल्य बल जिससे हो एक में पक्षधर्मता आदि का होना है और एक में उनका न होना अथवा अनुमान बाधा प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि पक्षधर्मता आदि दोनों अनुमानों में पायी जाती हैं। जैसे - एक ने कहा यह मनुष्य मूर्ख है क्योंकि शास्त्र का व्याख्यान करता है। इन दोनों अनुमानों में पक्षधर्मता पाई जाती है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। जब दोनों अनुमानों में पक्षधर्मता पायी जाती है तो उनमें से एक बाधित और एक बाधक नहीं हो सकता है। अन्यथा दोनों में से कोई बाध्य और कोई भी बाधक हो जायेगा और अन्योन्याश्रय दोष भी आता है।

**निष्कर्ष** - अतः पंचहेतु लक्षण की सिद्धि नहीं होती है, एकमात्र अविनाभाव नियम ही हेतु लक्षण उचित सिद्ध होता है।



### बौद्धमत में मान्य शब्द अप्रमाणवाद

**बौद्ध की मूल अवधारणा** -

1) बौद्ध कहते हैं शब्द का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि शब्द प्रमाण नहीं है तो उसका अन्तर्भाव अनुमान कैसे होगा। शब्द अप्रमाण होने से शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। न तो शब्द के साथ

तादात्म्य सम्बन्ध है, न तदुत्पत्ति। क्योंकि शब्द के साथ अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध होने पर छुरा कहते ही मुँह फट जाएगा और लड्डू कहने मात्र से मुँह मीठे से भर जाएगा क्योंकि शब्द और अर्थ एक ही है।

2) शब्द और अर्थ के साथ तदुत्पत्ति संबंध भी नहीं है क्योंकि अर्थ के अभाव में शब्द उत्पत्ति देखी जाती है। केवल विकल्प वासना से ही शब्दों का जन्म होता है।

3) ज्ञान कराने में शब्द कारण नहीं है - वक्ता पुरुष के दोषों का इसमें कोई अपराध नहीं है। आप्त पुरुष निरर्थक वाक्य नहीं बोल सकता है। जो ऐसा निरर्थक वाक्य बोलता है वह आप्त पुरुष नहीं होता है। इस विपक्ष के कथन को बौद्ध अमान्य करते हुये कहते हैं। अयथार्थ ज्ञान कराने के कारण वक्ता का दोष है।

4) विकल्प वासना से शब्दों का जन्म होता है और शब्दों से विकल्पों का जन्म होता है। शब्द अर्थ को छूटा भी नहीं है।

बौद्धों के उपर्युक्त तर्कों का सटीक उत्तर देते हुये जैन आचार्य कहते हैं -

क) शब्द और अर्थ में तादात्म्य और तदुत्पत्ति संबंध न होने पर भी योग्यता रूप संबंध पाया जाता है, क्योंकि पदार्थों की शक्तियाँ निश्चित होती है। शब्द में प्रतिपादक शक्ति और अर्थ प्रतिपाद्य शक्ति प्रतिनियत है। अर्थात् शब्द में कहने की शक्ति है और अर्थ में कहे जाने की शक्ति है इसी का नाम योग्यता है।

ख) शब्द का अर्थ वाच्य है और अर्थ का वाचक अमुख शब्द है। इस प्रकार संकेत ज्ञान जिसे होता है उसी को शब्द अपने अर्थ को कहता है और जिसे संकेत का ज्ञान नहीं होता है उसे शब्द सुनकर भी अर्थ का ज्ञान नहीं होता है।

ग) जिसने शब्द और अर्थ के संकेत को जाना है उसी को शब्द सुनकर वाच्य अर्थ का बोध होता है। शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक शक्ति रूप सम्बन्ध स्वाभाविक ही होता है। केवल उसको जानने के लिये संकेत ग्रहण की आवश्यकता होती है।

यदि इस स्वाभाविक संबंध में व्यतिक्रम किया जायेगा तो दीपक और घट में प्रकाश्य-प्रकाशक शक्ति है उसके भी व्यतिक्रम की आपत्ति खड़ी होगी और ऐसा होने पर दीपक प्रकाश्य और घट प्रकाशक हो जायेगा। यदि ऐसा होना प्रतीति विरुद्ध है तो शब्द का वाच्य और अर्थ का वाचक होना भी प्रतीति विरुद्ध होगा।

घ) सब शब्दों में सब अर्थों को कहने की शक्ति है किन्तु प्रतिनियत संकेत कर लेने से प्रत्येक शब्द प्रतिनियत अर्थ का ही बोध कराता है या प्रतिपादन करता है। एक ही शब्द का विभिन्न देशों में विभिन्न संकेत पाया जाता है जैसे डुकरा शब्द को म.प्र. में बुजुर्ग व्यक्ति के लिये प्रयोग किया जाता है और महाराष्ट्र में सूअर के लिये।

ङ) चक्षु की तरह शब्द का अर्थ के साथ योग्यता रूप संबंध है तो चक्षु की तरह शब्द संकेत ग्रहण किये बिना ही अर्थ का ज्ञान क्यों नहीं कराता है। इस बौद्ध के तर्क को अमान्य करते हुये जैन आचार्य कहते हैं कि शब्द ज्ञापक है अतः वह संकेत की अपेक्षा से ही अर्थ का ज्ञान कराता है क्योंकि जो ज्ञापक होता है वह ज्ञापक और ज्ञाप्य के संबंध को जिसने पहले से जान लिया है उस पुरुष को ही ज्ञाप्य का ज्ञान कराता है। इसी तरह शब्द भी ज्ञापक है किन्तु चक्षु ज्ञापक नहीं है कारक है।

अतः बौद्धों द्वारा यह कथन की शब्द अर्थ को नहीं छूटा है पूर्णरूपेण अनुचित है।

च) शब्द के द्वारा ही स्वपक्ष का साधन और परापक्ष का निराकरण किया जाता है तथा तत्त्वज्ञान में उत्पन्न हुये विवादों का परिहार शब्द के द्वारा ही होता है।



## शब्द अनुमान गर्भितवाद (वैशेषिक)

### मूल अवधारणा -

- 1) शब्द प्रमाण नहीं हैं
- 2) शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न नहीं है

### पक्ष के तर्क -

- 1) शब्द और अनुमान समान ग्राही है।
  - 2) शब्द और अनुमान की सामग्री एक ही है।
  - 3) शब्द असंबद्ध अर्थ को कहता है ऐसा कहना अस्वीकार होता है क्योंकि शब्द संबद्ध अर्थ को ही कहता है।
  - 4) संबद्ध अर्थ का ज्ञान कराने के कारण शब्द और लिंग/हेतु एक ही होते हैं, क्योंकि शब्द और अनुमान एक ही सामग्री से उत्पन्न होते हैं।
  - 5) अनुमान में साधन से साध्य का ज्ञान होता है वैसे ही शब्द में वाच्य और वाचक के संबंध का ज्ञान होता है।
  - 6) शब्द और अनुमान में अन्वय व्यतिरेक रहता है।
  - 7) शब्द में भी पक्ष धर्मता रहती है।  
जैसे प्रत्यक्ष से धूम देखकर अग्नि का ज्ञान होता है वैसे ही शब्द सुनकर अर्थ का ज्ञान होता है।
  - 8) शब्द केवल वक्ता की इच्छा में प्रमाण होता है। बाध्य अर्थ में प्रमाण नहीं है क्यों कि इसमें व्यभिचारी दोष आता है।
- निष्कर्ष** - उपरोक्त तर्कों के आधार पर शब्द अप्रमाणवाद के पक्ष में यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुमान के अन्तर्गत शब्द का समावेश हो जाता है। अतः पृथक् से शब्द प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।
- आगम को अप्रमाण मानने वाले वाद के विपक्ष में जैन आचार्य अपने अमोघ तर्कों के माध्यम से आगम को प्रमाण रूप सिद्ध करते हैं। वे तर्क निम्न हैं -

1) शब्द और अनुमान प्रमाण एक नहीं होता है, क्योंकि दोनों का विषय एक नहीं है। शब्द का विषय मात्र अर्थ है किन्तु अनुमान का विषय साध्य धर्म से युक्त धर्मों है।

2) यदि शब्द और अनुमान का विषय अभेद माना जायेगा तो प्रत्यक्ष और अनुमान में भी अभेद का प्रसंग आ जायेगा क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय सामान्य विशेषात्मक वस्तु है।

3) सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान कराने के कारण शब्द अनुमान नहीं हो सकता है। कारण, प्रत्यक्ष भी सम्बद्ध अर्थ का ही ज्ञान कराता है, अतः वह प्रत्यक्ष भी अनुमान हो जायेगा। जिस तरीके से प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान कराने के बाद भी अनुमान से भिन्न रहता है उसी तरह शब्द भी अनुमान प्रमाण से भिन्न रहेगा।

4) तो फिर शब्द अनुमान से भिन्न क्यों नहीं है, क्योंकि शब्द प्रमाण की सामग्री अनुमान प्रमाण से भिन्न है। अतः अभिन्न विषय होने से शब्द को अनुमान मानना उचित नहीं है।

5) शब्द अर्थ में अन्वय-व्यतिरेक भी नहीं होता है, क्योंकि शब्द तो मुख में रहता है और अर्थ भूमि पर रहता है। जिस काल में शब्द हो उस काल में अर्थ अवश्य हो ऐसी भी बात नहीं है, जैसे रावण।

6) शब्द और अर्थ में अन्वय-व्यतिरेक तो हम भी मानते हैं किन्तु इस अन्वय-व्यतिरेक तो प्रत्यक्ष में भी पाया जाता है। अतः प्रत्यक्ष भी अनुमान हो जायेगा।

7) बाह्य अर्थ ही शब्द का विषय होता है। शब्द उच्चारण की इच्छा का नाम विविक्षा है। क्योंकि उसका विषय तथा उसकी उत्पादक सामग्री अनुमान से भिन्न है।

अतः वक्ता की इच्छा से और बाह्य अर्थ में प्रमाण होते हुये शब्द अनुमान नहीं हो सकता है।



## शब्द अर्थ नित्य संबंधवाद

जहाँ बौद्ध मत शब्द को अप्रमाण सिद्ध करने लिये शब्द और अर्थ के संबंध को अस्वीकार करता है वही मीमांसक मत के विद्वान शब्द और अर्थ के साथ नित्य संबंध सिद्ध करने के लिये अपनी तर्कशक्ति का पूरा प्रयोग करते हैं। उनके शब्द के साथ अर्थ का अनित्य संबंध को निरस्त करने के लिये निम्न तर्क अवलोकनीय है।

मीमांसकों ने अनित्य संबंध का खण्डन करने के लिये तर्क देते हुये तीन विकल्प प्रस्तुत किये हैं -

1. प्रत्येक शब्द को लेकर संबंध किया जाता है।
2. प्रत्येक पुरुष के प्रति संबंध होता है।
3. अर्थ को लेकर संबंध किया जाता है।

प्रथम विकल्प का खण्डन करते हुये वे कहते हैं कि पुरुष को लेकर यदि शब्द का अर्थ के साथ संबंध किया जायेगा तो

1. कृतत्व और अकृतत्व की समस्या आयेगी।
2. एक और अनेक की समस्या आयेगी।
3. यदि पुरुष एक होगी तो कृतत्व कैसे होगा।

अतः वह अकृतत्व ही ठहरता है अर्थात् बिना किया हुआ सिद्ध होता है, क्योंकि सत्ता वस्तु का पुरुष से जन्म जानना उचित नहीं है। हाँ, पुरुष के व्यापार से सत्ता की अभिव्यक्ति ही हो सकती है। पुरुष के द्वारा प्रत्येक पुरुष के प्रति शब्दार्थ के संबंध यदि अनेक है, तो गो शब्द का अर्थ गलकम्बल वाला है और अश्व शब्द का अर्थ अयाल वाला है। इस प्रकार का अर्थ की संगति कैसे हो सकती है। प्रत्येक पुरुष के प्रति शब्दार्थ का कर्ता एक ही है अथवा अनेक है यदि एक है तो देशान्तर में रहने वाले पुरुषों के प्रति शब्द अर्थ का संबंध कैसे

करता है उन देशों में जा-जा करके तो कर नहीं सकता है। यह कार्य तो पूरी आयु बीतने के बाद भी नहीं हो सकेगा। संभवतः कोई कहे की एक पुरुष निकटवर्ती बहुत से प्रदेशों में शब्द और अर्थ का निर्धारण करता है फिर सम्प्रेषण पद्धति (नेटवर्क) से यह कार्य कर देगा किन्तु इसमें जहाँ नहीं जा पाएगा वह पुरुष वहाँ शब्द और अर्थ का संबंध नहीं हो पायेगा और यदि शब्द और अर्थ का संबंध निश्चित करने वाले पुरुष अनेक हैं तो शब्द अर्थ संकेत में एकरूपता नहीं रह पायेगी। दूसरा यदि एकरूपता मानी जाय तो उनकी स्वतंत्रता नष्ट हो जायेगी।

4. प्रत्येक शब्द का संकेत ग्रहण किया जाता है तो प्रत्येक शब्द का उच्चारण करके किया जाता है या बिना उच्चारण के किया जाता है या बिना उच्चारण के किया जाता है। बिना उच्चारण के शब्द का अर्थ के साथ संबंध करना संभव नहीं है क्योंकि संकेत निराश्रय हो जाता है। यदि शब्द उच्चारण करके संकेत ग्रहण किया जाता है तो पूरी उम्र बीत जाने पर भी संभव नहीं है।

5. प्रत्येक अर्थ का संबंध कर सकना भी अशक्य है। क्योंकि अर्थों का अंत नहीं है वे दूर-दूर तक फैले हैं। अतः शब्द और अर्थ का नित्य संबंध सिद्ध होता है। शब्द और अर्थ के नित्य संबंध की सिद्धि प्रत्यक्ष अनुमान और अर्थापत्ति तीनों से होती है।

मीमांसकों के शब्द अर्थ के संबंध को नित्य सिद्ध करने वाले तर्क भले ही कुछ समय के लिये ठीक प्रतीत हो किन्तु जैन आचार्यों के तर्क के सामने वे ठहर नहीं पाते हैं।

वे तर्क निम्न प्रकार हैं -

1. जैन आचार्य कहते हैं कि शब्द और अर्थ का नित्य संबंध स्वभाव से है अथवा संबंधियों के नित्य होने से है। स्वभाव से नित्य मानने पर हमेशा सब के प्रति अर्थ प्रकाशन की आपत्ति आती है। संकेत द्वारा व्यक्ति होने पर ही यह नित्य संबंध शब्दार्थ का प्रकाशक होता है। तो फिर नित्य एक रूप नहीं रहता है,

क्योंकि उसके व्यक्त और अव्यक्त रूप से दो भेद हो जाते हैं। संकेत तो पुरुषाधीन होते हैं ऐसी स्थिति में अतिन्द्रिय ज्ञान से रहित पुरुष वेद का गलत/विपरीत अर्थ निकल सकता है। ऐसा होने से वेद अप्रमाण हो जायेंगे इसलिये स्वभाव से शब्द और अर्थ का नित्य संबंध नहीं माना जा सकता है।

2. एवं संबंधियों के नित्य होने से संबंध नित्य नहीं होते हैं क्योंकि नित्य संबंधी कौन हैं? अर्थ है या दोनों। शब्द तो नित्य नहीं है अर्थ भी नित्य नहीं है क्योंकि घट आदि पदार्थों की अनित्यता प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ सामान्य नहीं है किन्तु सामान्यवान है। शब्द अर्थ का नित्य संबंध किस प्रमाण से जाना जाता है अर्थात् शब्द अर्थ का नित्य संबंध प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है।

3. शब्द अर्थ के अनित्य संबंध मानने पर मीमांसक द्वारा उठाई गई आपत्तियाँ विचारपूर्ण नहीं है। अतः योग्यता रूप संबंध के द्वारा ही शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है।



## आगम प्रमाण के अन्तर्गत वेद अपौरुषेयवाद का मूल्यांकन

मीमांसक दर्शन का कथन है कि लौकिक शब्द भले ही पौरुषेय हो अर्थात् पुरुष के द्वारा बनाए गये हो। किन्तु वैदिक शब्द पौरुषेय नहीं हैं। क्योंकि वेद अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष के द्वारा नहीं बनाये गये हैं वे अपनी अवधारणा को पुष्ट करने के लिये कुछ तर्क देते हैं वे निम्न प्रकार से विचारणीय है -

1. वेद अपौरुषेय है क्योंकि स्मरण योग्य होते हुये भी उसके कर्ता का स्मरण नहीं होता है जैसे आकाश यह हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि वेद के कर्ता का कभी किसी को स्मरण नहीं होता है यदि वेद का कोई कर्ता होता है तो वेदार्थ का अनुष्ठान करते समय उसके कर्ता का स्मरण अवश्य करते क्योंकि जो लोग जिस अर्थ का अनुष्ठान करते हैं वे अवश्य ही उस शास्त्र के कर्ता का स्मरण करते हैं। अतः निश्चित है कि वेद का कोई कर्ता नहीं है।

2. वेद कोई रचना नहीं है क्योंकि कृत्रिम रचनाओं से वेद की रचना विलक्षण है।

3. वेद का अध्ययन गुरु से अध्ययन पूर्वक ही आया है क्योंकि उसे वेदाध्ययन कहते हैं। तथा अतीत और अनागत काल भी वेद के कर्ता से रहित है इन अनुमानों से भी वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है।

4. अपौरुषेय होने से वेद ही प्रमाण है क्योंकि पुरुष के दोषों के कारण ही वचन अप्रमाण होता है। आप्त पुरुष के गुणों के कारण शब्दों में प्रमाणपना नहीं आता है क्योंकि वे तो केवल शब्दों का उच्चारण करते हैं अतः शब्द स्वतः अप्रमाण है।

5. जिस शब्द की रचना पुरुषकृत होती है उसका प्रामाण्य और अप्रामाण्य पुरुष की प्रमाणता और अप्रमाणता पर निर्भर होता है। वेद तो नित्य रचना है अतः नित्य वेद स्वतः प्रमाण है।

मीमांसकों द्वारा वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये जो तर्क दिये गये हैं उनका जोरदार खंडन करने के लिये जैन आचार्यों के गंभीर तर्क इस प्रकार है-

1. वेद का कर्ता स्मरण नहीं होता है इसलिए वेद अपौरुषेय है यह तर्क समीचीन नहीं है क्योंकि कर्ता का स्मरण नहीं होने का आशय यदि कर्ता के स्मरण का अभाव है तो हेतु व्याधिकरण सिद्ध होता है। अर्थात् साध्य भिन्न अधिकरण में रहता है और हेतु भिन्न अधिकरण में कारण कि कर्ता के स्मरण के अभाव कारण में रहता है और साध्य अपौरुषेयत्व वेद में रहता है तथा हेतु अज्ञात सिद्ध भी है क्योंकि उसका कोई ग्राहक प्रमाण नहीं है कर्ता स्मरण का अभाव प्रत्यक्ष स्मरण का नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष तो प्रतिनियत रूप आदि को जान सकता है, और अभाव को नहीं जान सकता है यदि प्रत्यक्ष अभाव को जान लेगा तो मीमांसक के अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति का निषेध हो जायेगा। अतः यह जानना आवश्यक होगा कि कर्ता के स्मरण के अभाव का आधार कौन है? स्वात्मा या सारे प्रमाता। यदि स्वात्मा है तो क्या इतने से ही कर्ता के स्मरण का अभाव सिद्ध हो जायेगा तो जिन पदार्थों का आत्मा में स्मरण



नहीं है उस सब का अभाव सिद्ध हो जायेगा और यदि सारे प्रमाता वेद के कर्ता का स्मरण नहीं करते हैं तो यह बात असर्वज्ञ व्यक्ति नहीं जान सकता और यदि जानता है तो उसकी सर्वज्ञता का प्रश्न आ जाता है।

2. सारे प्रमाताओं ने कर्ता का स्मरण नहीं किया यह बात कैसे जानी ? क्या सभी प्रमाताओं से पूछकर जाना ? क्योंकि मीमांसक मत में अभाव को जानने के लिये सब देशों में जाना जरूरी है। और सभी लोगों से पूछना होगा कि हमें आपको वेदों के कर्ता का स्मरण तो नहीं है। यह सब संभव नहीं हैं।

3. वेद जब स्वयं कर्ता का अस्तित्व बतलाता है तो उसमें अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? 'स हि रुद्रं वेदकर्तारम्' (वेद का कर्ता रुद्र है) 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व वेदाश्च प्रहिणोति' जो पहले ब्रह्मा को रचता है फिर वेदों को रचता है) तथा 'प्रजापतिः सोम राजनमन्वसृजत, ततः त्रयो वेदाः अन्वसृज्यन्त' (प्रजापति ने सोम राजा को रचा, फिर तीन वेद रचे) इत्यादि श्रुति वेद के कर्ता को बताती है। पौराणिक ब्रह्मा को वेद का कर्ता, योगदर्शन वाले महेश्वर को और जैन कालासुर की कृति बताते हैं। स्मृतिपुराण की तरह वेद की शाखायें भी ऋषियों के नाम से अंकित है। ये ऋषि इन वेदों के कर्ता थे अथवा दृष्टा अथवा उन वेदों को प्रकाश किया।

1) ऋषि के कर्ता होने पर वेद अपौरुषेय नहीं रहता है।

2) वेद उनके कण्व आदि ऋषियों ने नष्ट अथवा विस्मृत हुये शाखाओं को देखा यदि ऋषियों ने उनको प्रकाशित किया तो वेदों को परम्परा अवच्छिन्न कहाँ रही ? इस तरह से वेद के कर्ता स्मरण करते हैं और मीमांसक नहीं करते हैं अतः कर्ता के स्मरण मात्र होने से वेद अपौरुषेय सिद्ध नहीं होता है।

4. महाभारत आदि की तरह वेद भी पौरुषेय हैं क्योंकि वेद वाक्यात्मक रचना रूप है।

5. वेदों की रचना अन्य रचनाओं से विलक्षण है इसका आधार क्या है ?

6. उच्चारण का काठिन्य है अथवा श्रवण काठिन्य है अथवा छन्द की विचित्रता है अथवा अतीन्द्रिय विषयों का कथन है अथवा महाप्रभावशाली कथन ये सभी बातें पुरुषों के लिये कठिन नहीं है। अनुसंधान करके सभी कार्य किये जा सकते हैं।

7. वेद की विशिष्ट रचना देखकर असमर्थ कर्ता का ही निराकरण होता है ना कि कर्ता मात्र का। कोई विशिष्ट रचना देखकर कोई यह नहीं कहता कि ये अकृत्रिम है अपितु यह कहते हैं कि यह असाधारण शिल्पी का काम है। अतः वेद अपौरुषेय है। ये सभ अनुमान से सिद्ध करने के लिये ठीक नहीं है।

8. वेद का अध्ययन गुरु से अध्ययनपूर्वक होता है क्योंकि उसे वेद का अध्ययन कहते हैं यह हेतु दोषपूर्ण है। क्या वेद का अध्ययन स्वयं नहीं किया जा सकता ? इस हेतु से वेद अपौरुषेय सिद्ध नहीं होता है।

9. व्याख्यात वेद ही अपने अर्थ का ज्ञान करता है यह स्वयं सिद्ध होता है। वेद की व्याख्याता अतीन्द्रिय दर्शी है अथवा नहीं। यदि अतीन्द्रियदर्शी है तो सर्व का निषेध नहीं किया जा सकता है और यदि अतीन्द्रिय दर्शी नहीं है तो उसके अयथार्थ कथन में आशंका बनी रहती है।

10. ब्रह्मा को पदार्थ के ज्ञान वैशिष्ट्य कैसे सिद्ध होता है यदि धर्म विशेष के कारण होता है तो चक्रक नामक दोष आ जायेगा अतः अतीन्द्रिय दर्शी पुरुष के ना मानने पर वेदार्थ का ज्ञान नहीं होता है।

11. यदि वेदार्थ को जानने के लिये अतीन्द्रिय की आवश्यकता नहीं है तो लौकिक और वैदिक शब्द समान होने से क्या होगी ? लौकिक और वैदिक दोनों में कोई अंतर नहीं रहेगा। अतः लौकिक शब्द पौरुषेय है और वैदिक शब्द अपौरुषेय है यह मत किसी भी तरह से सिद्ध नहीं होता है।



## शब्द अर्थ अन्यापोहवाद की समीक्षा (बौद्ध)

बौद्ध मत के अनुसार शब्द या श्रुत अविषयवादी नहीं हो सकता है क्योंकि जो शब्द सत् अर्थ में देखे जाते हैं वे ही शब्द अर्थ के अभाव में देखे जाते हैं। अतः शब्द विधि रूप से अर्थ का कथन नहीं करते हैं इसलिये अन्यापोह को ही शब्द अर्थ मानना चाहिये यही बौद्ध मत की शब्दार्थ अन्यापोहवाद की मूल अवधारणा है। इसी अभिमत को पुष्ट करने के लिये बौद्ध अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं -

1. पदार्थ दो प्रकार के होते हैं एक स्वलक्षण और दूसरा सामान्य। यदि बाह्य पदार्थ शब्द का विषय है तो वह स्वलक्षण या सामान्य रूप स्वलक्षण पदार्थ शब्द का रूप नहीं हो सकता क्योंकि वह निरंश, एकक्षणवर्ती और परमाणु स्वरूप होता है। अतः वह देशान्तर और कालान्तर का अनुसरण नहीं करता है।

2. सामान्य रूप अर्थ भी शब्द का विषय नहीं होता है क्योंकि वास्तविक सामान्य ही असंभव है। क्योंकि वह खर विषाण की तरह क्रियाकारी नहीं होता है। नित्य एक रूप सामान्य क्रम और युगपत् दोनों रूप से अर्थ क्रिया नहीं करता है। अतः शब्द का विषय अर्थ नहीं किन्तु अन्यापोह है।

**अन्यापोह से तात्पर्य** - अपोह का अर्थ निषेध है। अपोह के दो भेद हैं - पर्युदास और प्रसज्य। पर्युदास के दो भेद हैं - बुद्धिरूप और अर्थरूप।

1. सामान्य के बिना भी हरड़ आदि ज्वर शमन का कार्य करती है उसी प्रकार शावलेय आदि अर्थ भी परस्पर में भेद के होते हुये भी स्वभाव से एकाकार प्रत्यावमर्श के कारण होते हैं। इन अर्थों के अनुभव के बल से जो सविकल्पक उत्पन्न ज्ञान होता है उस ज्ञान में अर्थाकार रूप से जो अर्थ का आभास होता है उसे अपोह कहते हैं। इसे अपोह चार कारणों से कहते हैं -

1. विकल्पान्तरवर्ती आकारों से भिन्न होकर वह स्वयं प्रतिभासमान होता है अथवा स्वीकार से अन्य आकारों का उन्मूलन करता है इसलिये अन्यापोह कहते हैं यह मुख्य रूप से अन्यापोह है।

2. कार्य में कारण धर्म का आरोप  
3. विजातीय से भिन्न स्वलक्षण के साथ सविकल्पक में प्रतिभासमान रूप एकत्व अध्यवसाय होने से उसे अन्यापोह कहते हैं।

4. यह बुद्धिरूप अन्यापोह है।  
प्रसज्य रूप अन्यापोह - यह गौ है आगौ नहीं। इस प्रकार केवल अन्य की भिन्नता ही सिद्ध करता है वह प्रसज्य अन्यापोह है।

- शब्द मात्र अन्यापोह का वाचक है।  
- शब्द ज्ञान में जो प्रतिभासित हो उसे ही शब्दार्थ जानना चाहिये।  
- शब्दज्ञान में ना तो प्रसज्य प्रतिषेध का आभास होता है और ना स्वलक्षण का आभास होता है किन्तु बाह्य अर्थ की निश्चायक एक शब्दीबुद्धि ही उत्पन्न होती है।

**वाच्य (बौद्ध के अनुसार)** - बुद्धि में जो अर्थ का प्रतिबिम्ब होता है वह शब्द जन्य है उसे वाच्य कहते हैं।

वाचक - शब्द को उसका जनक होने से वाचक कहते हैं।  
जैनाचार्यों ने शब्द के अर्थ अन्यापोह को अस्वीकार करते हुये अपने तीखे तर्क बौद्धों के सामने रखे वे तर्क निम्न हैं -

1. अन्यापोह का स्वरूप अस्पष्ट और भ्रामक है। सविकल्पक बुद्धि में जो अर्थाकार प्रतिबिम्ब उत्पन्न होते हैं उसे बौद्ध मत वाले अन्यापोह कहते हैं। किन्तु प्रश्न यह पैदा होता है कि वह प्रतिबिम्ब किसका है? स्वलक्षण का या सामान्य का।

अ) वह प्रतिबिम्ब स्वलक्षण का हो नहीं सकता है क्योंकि व्यावृत्ताकार है और प्रतिबिम्ब अनिवृत्ति रूप है। यदि वह प्रतिबिम्ब स्वलक्षण का है तो स्वलक्षण को भी अनुवृत्त एकाकारी होना चाहिये।

ब) यदि वह सामान्य तो बौद्ध मत में सामान्य असत् है और असत् का एक प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है?

2. यदि शब्द जन्य विकल्प केवल अपने प्रतिबिम्ब का ही निश्चायक है तो बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति कैसे होगी ?

3. बौद्ध मत अनुसार अनर्थ में अर्थ का अध्यवसाय करने में बाह्य में प्रवृत्ति होती है। अर्थ अध्यवसाय से तात्पर्य यदि अर्थ के ग्रहण करने का मानते हैं तब तो जैनमत की सिद्धि होती है क्योंकि बौद्ध मत शब्दज्ञान को बाह्य अर्थ का ग्राहक नहीं मानता है।

4. यदि विकल्प अपने आकार को बाह्य अर्थ के साथ मिला देता है तो यह अर्थ अध्यवसाय का मतलब है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी प्रतीति नहीं होती है।

5. संभवत यदि कोई कहे कि विकल्प अपने आकार में बाह्य अर्थ को प्रकट करता है तो उनका यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि विकल्पाकार और बाह्य अर्थ दोनों का ग्रहण होने पर ही एक दूसरे में समारोप हो सकता है।

6. विकल्पाकार और बाह्य अर्थ को कौन ग्रहण करता है सविकल्प अथवा निर्विकल्पक तो ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि निर्विकल्पक केवल स्वलक्षण को ग्रहण करता है। अतः अन्यापोह रूप विकल्पाकार को वह ग्रहण नहीं कर सकता है।

7. सविकल्प भी दोनों को ग्रहण नहीं कर सकता है क्योंकि वह बाह्य पदार्थ को विषय नहीं करता है। अतः स्वाकार में बाह्य अर्थ और बाह्य अर्थ में स्वाकार का आरोप कैसे हो सकता है ?

8. यदि शब्द और लिंग से केवल अपोह की प्रतीति होती है तो सब शब्द पर्यायवाची हो जायेंगे क्योंकि सभी शब्द केवल अपोह को कहते हैं।

9. इस उपरोक्त तर्क के बचाव के लिये बौद्ध अपोह के भेद कहते हुये एक और प्रयास करते हैं किन्तु अपोह के भेद कैसे होते हैं ? यह जैनाचार्यों के प्रश्न विकल्पात्मक तर्क से अकाट्य रूप धारण कर लेता है।

अ) अपोह के अपोह्य के भेद होते हैं।

ब) वासना के भेद से अपोह्य के भेद होते हैं।

अथवा

स) भिन्न सामग्री

अपोह के भेद का आधार

(बौद्ध मतानुसार) उपपत्ति

अ) अपोह के अपोह्य के भेद होते हैं

सर्व प्रमेय आदि शब्द एकार्थवाची हो जायेंगे।

ब) वासना के भेद से अपोह्य के भेद होते हैं

अप्रमेय कोई होगा सत् एवं कृतकार्य हेतु कैसे सिद्ध होंगे ?

अपोह के भेद का आधार

आपत्ति - अपोह एक रूप से तो अनुभव भेद रूप कैसे हो सकता है वासना के भेद से भी अपोह के भेद नहीं बनते।

स) भिन्न सामग्री से उत्पन्न होने के कारण अपोह के भेद होते हैं

सामग्री की भिन्नता से अपोह में भेद नहीं हो सकते हैं क्योंकि अपोह तो काल्पनिक है जो काल्पनिक होता है वह किसी से उत्पन्न नहीं होता।

द) विभिन्न कार्यों के करने के कारण अपोह्य में भेद

जो वास्तविक सत् नहीं है वह विभिन्न कार्य नहीं कर सकता। यदि अपोह्य अनेक कार्य करता है तो वह वास्तविक सत् होगा।

**निष्कर्ष** - उपरोक्त स भी संभावनाएं खंडित होने के बाद अपोह्य का भेद सिद्ध नहीं होता है।

10. यदि शब्द स्वरूप भेद से भिन्न अपोह्य का कथन करता है ऐसा ही यदि आपका मन्तव्य है तो वह अपोह्य पर्युदास रूप है अथवा प्रसज्य रूप है। यदि पर्युदास रूप है तो उसे भावान्तर रूप ही मानना चाहिये और भावान्तर की सिद्धि विशेष सामान्य अथवा सामान्य से उपलक्षित विशेष अथवा विशेष और सामान्य का समुदाय इन चारों पक्षों से अर्थ विधि की सिद्धि होती है अपोह्य की नहीं।

11. यदि शब्द स्वरूप भेद से भिन्न प्रसज्य रूप अपोह्य हो सकता है तो शब्द का अर्थ केवल निषेध ही कहलायेगा किन्तु यह ठीक नहीं है किन्तु ऐसी प्रतीति नहीं होती है। दूसरों को समझाने के लिये ही शब्द का प्रयोग होता है, दूसरा नील को जानना चाहता है अनील को नहीं। यदि समझाने वाला जिज्ञासु के प्रतिकूल अर्थ का कथन करता है तो वह बुद्धिमान सिद्ध नहीं होता है।

12. यदि शब्द निषेध मात्र को कहता है तो नील और कमल शब्द का सामाना-धिकरण नहीं बनता है क्योंकि नील अनील का निषेध करता है और कमल अकमल का, यह दोनों निषेध एक धर्मी में संबंध नहीं हो सकते हैं क्योंकि भावरूप धर्मी और अभावरूप अनील और अकमल का तादाम्य संभव नहीं है। अतः सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही शब्द का विषय मानना चाहिये। प्रतीति का अलाप करना उचित नहीं है वाच्य और वाचक का संबंध तर्क प्रमाण से प्रतीत होता है।

**काल की बाधा** - अतीत और अनागत अर्थ के वाचक शब्द अर्थ के अभाव में देखे जाते हैं। तब शब्दों का अर्थ के साथ प्रतिबन्ध कैसे सिद्ध होगा? बौद्धों के इस तर्क का निषेध करते हुये जैनाचार्य कहते हैं कि हम सभी शब्दों को अर्थ का अविनाभावी नहीं मानते हैं किन्तु आप के द्वारा कहे हुये सुनिश्चित शब्दों को ही अर्थ का अविनाभावी मानते हैं। कुछ शब्द अर्थ के व्यभिचारी देखे जाते हैं इसलिये सभी शब्दों को अर्थ का व्यभिचारी मानना उचित नहीं है। अन्यथा मारिचिका में होने वाला जल का ज्ञान झूठा होगा इसलिये सत्य जल के ज्ञान को भी झूठा मानना होगा। वाच्य वाचक भाव कार्यकारण भाव से भिन्न नहीं है। यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि बौद्ध मतानुसार शब्द उच्चारण के बाद श्रोता की बुद्धि में जो प्रतिबिम्ब होता है। चूँकि वह शब्द भिन्न होता है अतः वह वाच्य है और शब्द उसका होने से वाचक है।

13. यदि कारणकारी भाव और वाच्यवाचक भाव एक ही है तो श्रुतज्ञान में प्रतिभासमान शब्द अपने प्रतिभास में कारण होता है। अतः शब्द अपने प्रतिभास

का वाचक हो जायेगा। जैसे शब्द विकल्प का कारण है वैसे ही परम्परा से स्वलक्षण भी उसका कारण होता है अतः कारण होने से स्वलक्षण भी वाचक हो जायेगा। इसलिये बौद्धों का अन्यापोहवाद उचित नहीं है।



## शब्द अर्थ सामान्यवाद की समीक्षा

शब्द के विषय को कैसा माना जाए इस संदर्भ में दर्शन विषय के विचारकों में गंभीर चर्चा हुई। मीमांसकों का कहना है कि शब्दों का विषय सामान्य मात्र ही है, उनके कुछ तर्क इस तरह हैं -

**तर्क 1** - एक व्यक्ति में सामान्य को जानकर उसके द्वारा संकेत किया जा सकता है।

**तर्क 2** - विशेष शब्द का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि विशेष अथवा व्यक्ति अनंत है। उन सबको पूरी तरह ग्रहण करना संभव नहीं है। अतः विशेषों में संकेत नहीं किये जा सकते हैं।

**तर्क 3** - यदि विशेषों में संकेत ग्रहण माना जायेगा तो शब्द व्यवहार नहीं हो सकता है।

**तर्क 4** - जो सर्वज्ञ है वे क्रम अथवा युगपत् रूप से व्यक्तियों को विषय नहीं कर सकते हैं और सर्वज्ञ तो विवादास्पद है और सर्वज्ञ तो विवादास्पद है और सब व्यक्तियों को ग्रहण किये बिना वाचक-वाच्य व्यवहार नहीं बन सकता है। वाच्य-वाचक के अभाव में शब्द सुनने से अर्थ ज्ञान नहीं हो सकता है और शब्द व्यवहार का नाश हो जायेगा। अतः शब्द सामान्य अर्थ को ही ग्रहण करता है।

जो सामान्य विशिष्ट विशेष को अथवा जाति विशिष्ट व्यक्ति को शब्द का अर्थ (विषय) मानते हैं उनसे मीमांसक प्रश्न करते हैं, शब्द जाति को कहकर विशेष व्यक्ति को कहता है अथवा जाति का कथन किये बिना व्यक्ति को कहता है कि यदि शब्द जाति को कहकर व्यक्ति को कहेगा तो उसकी शक्ति जाति

कथन करने में ही उसकी शक्ति पूरी लग जाने से वह व्यक्ति कथन कर ही नहीं सकता है। यदि शब्द जाति को बिन कहे ही व्यक्ति का प्रतिपादन करता है तो केवल विशेष मात्र का कथन करने से जाति, मद, वाचकत्व का अभाव ही हो जायेगा।

**तर्क** - सामान्य की प्रतिपत्ति होने से विशेष्यों की प्रतिपत्ति होती है। पहले शब्द से सामान्य मात्र की प्रतीति होती है। बाद में विशेष व्यक्ति की प्रतीति होती है क्योंकि सामान्य व्यक्ति के बिना नहीं रहता है।

जैनदर्शन के आचार्य ने सामान्य मात्र को ही शब्द का विषय नहीं माना वे कहते हैं कि शब्द का विषय मानने पर अनेक बाधाएँ आती है -

1. संकेत के अनुसार शब्द वाचक होता है और संकेत सामान्य विशिष्ट विशेष में ही किया जाता है न कि सामान्य मात्र में।

2. जाति न तो प्रवृत्ति का विषय है और अर्थ क्रिया में उपयोगी है।

3. केवल सामान्य में शब्द व्यवहार असंभव है।

4. शब्द का विषय सामान्य मानने पर संकेत कराने वाले व्यक्ति इस प्रकार सदृश परिणाम से युक्त वाच्य वाचक में ही संकेत ग्रहण कराता है।

5. व्यक्ति अनंत है उनको सबको ग्रहण करना शक्य नहीं है। यह मीमांसकों का कथन उचित नहीं है क्योंकि तर्क प्रमाणों के द्वारा सबका ग्रहण हो जाता है। साध्य रूप व्यक्ति और साधन रूप व्यक्ति अर्थात् धूम और अग्नि अनंत है फिर भी उनका ग्रहण तर्क प्रमाण से होता है। उसी सदृश परिणाम युक्त वाच्य वाचकों के अनंत होने पर भी उनका ग्रहण तर्क प्रमाण से हो जाता है। असर्वज्ञ व्यक्ति तर्क द्वारा सभी अनंत व्यक्तियों को ग्रहण कर लेता है।

6. मीमांसकों का यह कहना भी खंडित हो जाता है कि जाति को कहकर शब्द व्यक्ति को कहता है। क्योंकि एक साथ एक ही ज्ञान में जाति, व्यक्ति का प्रतिभास होना संभव है। जाति और व्यक्ति का प्रतिभास एक ही ज्ञान में एक साथ होता है तो उसमें यह नियम नहीं बनेगा कि जाति विशेषण है और व्यक्ति विशेषण है अथवा विशेषण भी विशेष हो जायेगा किन्तु यह कहना अनुचित है

कि एक ज्ञान में एक साथ दण्ड और पुरुष की प्रतीति होने पर भी दण्ड ही विशेषण है और पुरुषत्व विशेष है। यह नियम ठीक-ठीक प्रतीत होता है

7. मीमांसक कहते हैं कि गो शब्द सुनने से काली चितकबरी की प्रतीति नहीं होती है अतः विशेष शब्दार्थ नहीं है मीमांसकों के इस कथन को खण्डित करते हुये जैनाचार्य कहते हैं गोशब्द से काला आदि की प्रतीति नहीं होती है फिर भी गोत्र जाति विशिष्ट गल-कम्बल तथा ककुद (ऊँचे कंधे) वाले व्यक्ति की प्रतीति होती है काला चितकबरा आदि विशेषों की प्रतीति काला या चितकबरा शब्द से ही होती है किन्तु इससे सामान्य मात्र ही शब्दार्थ मानना उचित नहीं है। गौण और मुख्य से जाति और व्यक्ति दोनों की प्रतीति होती है। शब्द एक साथ ही विशेषण शेष का कथन करता है। यदि शब्द से सामान्य की प्रतीति होती है तो सामान्य से व्यक्ति की प्रतीति होने का क्या कारण है? इसका उत्तर देते हुये मीमांसक कहते हैं कि व्यक्ति के साथ सामान्य का संबंध है। अतः शब्द से प्रतीति सामान्य से लक्षण के अतः शब्द से प्रतीति सामान्य से लक्षण के द्वारा व्यक्ति की प्रतीति होती है। इस प्रसंग पर जैनाचार्य विकल्पात्मक तर्क देते हुये कहते हैं कि व्यक्ति के साथ सामान्य का क्या संबंध है चार प्रकार के संभावित तर्क निम्न प्रकार देते हैं -

संबंध	आपत्ति खंडन
संयोग संबंध	संयोग संबंध द्रव्य-द्रव्य के साथ ही होता है, किन्तु सामान्य द्रव्य नहीं है।
समवाय संबंध	मीमांसक समवाय संबंध नहीं मानते हैं।
तदुत्पत्ति संबंध	सामान्य और विशय में तदुत्पत्ति संबंध नहीं होता है।
तादात्म्य संबंध	एक ही गो शब्द से सामान्य विशेष की विशेषण विशेष रूप से एक साथ प्रतीति होने पर मात्र सामान्य को ही शब्दार्थ मानना अनुचित है।



8. शब्द प्रयोग के समय ही जाति और व्यक्ति की प्रतीति होती है अथवा पहली क्योंकि शब्द उच्चारण के काल में व्यक्ति की प्रतीति होती है अन्यथा लक्षणा की आवश्यकता समाप्त हो जायेगी। शब्द उच्चारण के पहले यदि जाति व्यक्ति की प्रतीति होने लगे तो तादात्म्य संबंध का कोई मतलब नहीं रहता है।

9. जाति स्वरूप मीमांसक कहते हैं वह व्यक्ति में होती है यही उसका स्वरूप है। यदि व्यक्ति में रहना ही जाति का स्वरूप है तो वह जाति सर्वव्यापक है अथवा व्यक्ति मात्र में व्यापक है यह विकल्पात्मक तर्क जैनाचार्य प्रस्तुत करते हैं। सर्वव्यापक का खंडन करते हुये जाति का रूप व्यक्ति निष्ठ होता है। अतः व्यक्तियों के अन्तराल में जाति का अभाव मानना होगा क्योंकि वहाँ व्यक्ति न होने से जाति के स्वरूप का अभाव है। दूसरा पक्ष भी असिद्ध है क्योंकि व्यक्ति की तरह जाति भी अनेक मानना होगी तब जाति और व्यक्ति में कोई भेद नहीं रहेगा। दोनों को ही शब्दार्थ मानना होगा। अथवा दोनों में से किसी को भी शब्दार्थ मत मानो।

10. संकेत के स्मरण की सहायता से शब्दार्थ की प्रवृत्ति होती है वही उसका अर्थ है किन्तु उस अर्थ के अविनाभावी रूप में जिस-जिस की दूसरे प्रमाण से प्रतीति होती है उन्हें शब्द प्रमाण के अन्तर्गत डालना उचित नहीं है। यदि ऐसा किया जायेगा तो प्रत्यक्ष सिद्ध हुये की अन्यथा अनुत्पत्ति से ज्ञात की गई अग्नि भी प्रत्यक्ष सिद्ध मानना पड़ेगी अतः जो प्रमाण से वस्तु की व्यवस्था करना चाहते हैं उन्हें जो जिससे जैसे प्रतिभासित होता है उसे उसका वैसा विषय मानना चाहिये। जैसे चक्षु आदि से होने वाले ज्ञान में नीला आदि रूप से रूप का प्रतिभास होता है। उसी प्रकार गौ आदि शब्दों से गौ आदि वस्तु का प्रतिभास होता है। अतः वही उस शब्द का विषय है सामान्य मात्र शब्द का विषय नहीं है।



## संस्कृत शब्द-अर्थ वाचकवाद की समीक्षा

एक शब्द को भी सम्यक् रीति से जानकार शास्त्रानुसार उसका शुद्ध प्रयोग करने से इस लोक परलोक में इच्छित फल की प्राप्ति होती है अर्थ का ज्ञान कराने में संस्कृत भाषा के शब्द ही कारण हो सकते हैं, प्राकृत अपभ्रंश के नहीं। संस्कृत से सिद्ध गोशब्द ही साधु है। अपभ्रंश से सिद्ध गावी या गौणी वाचक नहीं हो सकते हैं क्योंकि वे शुद्ध नहीं है इस तरह का अभिमत वैयाकरणों मत के मानने वाले प्रस्तुत करते हैं। वे अपने मत की पुष्टि हेतु कुछ तर्क प्रस्तुत करते हैं वे तर्क इस तरह है -

1. अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर वाचक भाव की व्यवस्था की जाती है। गावी आदि शब्दों के द्वारा अन्वय-व्यतिरेक दूसरे तरीके से बनता है। गावी शब्द वाचक नहीं हैं अशुद्ध शब्द का प्रयोग किये जाने पर शुद्ध शब्द का स्मरण होता है फिर उससे अर्थ का ज्ञान होता है जैसे - बालक माता को पुकारने के लिए अन्य शब्द कहना चाहता है किन्तु उच्चारण करने में असमर्थ होने के कारण अम्ब बोलता है यह अम्ब शब्द माँ का स्मरण करा देता है।

2. जहाँ-जहाँ अन्वय-व्यतिरेक अन्यथा सिद्ध होते हैं वहीं-वहीं वे वाचकत्व का नियम करते हैं। गावी शब्द में अन्वय-व्यतिरेक निश्चित नहीं हैं। इसलिये गावी शब्द के वाचकत्व का नियम नहीं बन सकता है। किन्तु गो शब्द में गोत्व रूप अर्थ का वाचक है और अन्वय-व्यतिरेक तो वादी-प्रतिवादी दोनों को स्वीकार है। अतः गौ शब्द ही गाय का वाचक मानना ठीक है।

3. गावी शब्द भ्रष्ट प्रयोग है। इसका प्रयोग नियत देश और नियत काल में कुछ पुरुषों के देखा जाता है किन्तु देशान्तर में गावी शब्द के संकेत ग्रहण नहीं किया जा सकता है और अर्थ बोध किया जा सकता है।

4. व्याकरण के बिना वृद्धजनों के व्यवहार से ही सब शब्दों के वाचकत्व का नियम नहीं बनाया जा सकता है। शब्द राशि अनंत है। अतः व्याकरण के

द्वारा थोड़े से प्रयत्न से ही शब्दों के वाचकत्व को जाना जा सकता है। अतः व्याकरण की आवश्यकता है।

5. व्याकरण प्रमाण है। व्याकरण को अप्रमाण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि व्याकरण के बिना कारकों को व्यवस्था नहीं बन सकेगी। लोक और शास्त्र से विरोध आ जायेगा। सभी शिष्ट पुरुष व्याकरण को प्रमाण मानते हैं। सभी शास्त्रों की भाषा और नियम व्याकरण आधीन है।

**निष्कर्ष** - व्याकरण से सिद्ध शब्द ही वाचक है। अपभ्रंश आदि शब्द वाचक नहीं हो सकते हैं।

वैयाकरण मत के विद्वानों के तर्क सुनने के बाद जैनाचार्य अपने सटीक तर्कों के द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि अपभ्रंश और प्राकृतिक आदि शब्दों के भी वाचकपना होता है। अपने पक्ष को सिद्ध करते हुए जैनाचार्य इस प्रकार तर्क देते हैं -

1. वाच्यवाचक भाव लोक-व्यवहार के अधीन है और लोक में गावी आदि शब्दों से ही व्यवहार चलता है।

2. जो संस्कृतज्ञ विद्वान हैं वे भी संस्कृत को छोड़कर गावी आदि शब्दों का व्यवहार करते देखे जाते हैं। संस्कृत के ज्ञाता या अज्ञाता गावी आदि शब्दों से ही अपना व्यवहार चलाते हैं। अतः अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा गावी आदि शब्दों में ही वाचकत्व का नियम होता है।

3. संस्कृत शब्दों की तरह प्राकृत शब्दों से भी साक्षात् ही अर्थ का ज्ञान होता है। यदि ऐसा न हो तो जहाँ संस्कृत के ज्ञाता नहीं है, वहाँ भाषा शब्दों से अर्थ का ज्ञान नहीं होगा। गावी आदि शब्द भी शब्दार्थ की स्मृति कराते हैं अतः उस स्मृति की सहायता से गावी आदि भी वाचक हो जाते हैं।

4. अनुभव मूलक स्मरण भी प्रमाण होता है क्योंकि अनुभव के अनुसार ही स्मरण होता है। गावी आदि शब्दों के ही वाचक होने का अनुभव होता है।

5. बालक के अशक्ति होने पर गौ के स्थान पर गावी का उच्चारण होता है

यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यदि बालक गौ शब्द का उच्चारण की इच्छा रखते हुये भी अशक्ति या प्रमाद से गावी शब्द का उच्चारण करता है तो प्रबुद्ध होने पर गावी शब्द छोड़कर गौ शब्द का ही व्यवहार करना चाहिये, किन्तु वह विद्वान होने पर भी गावी शब्द का ही प्रयोग करता है।

6. अपभ्रष्ट मानने का कारण क्या है ?

अ) पुरुषार्थ में सहायक नहीं है अथवा संकेत के द्वारा ही अपने अर्थ को कहते हैं। प्रथम पथ में दोष-प्राकृत शब्दों के व्यवहार से ही धर्म-अर्थ आदि पुरुषार्थ चलते हैं।

ब) ऐसा कोई पुरुषार्थ नहीं जिसका संबंध प्राकृत भाषा से न हो दूसरा पक्ष भी अनुचित है। क्योंकि प्राकृत शब्दों की तरह संस्कृत शब्द भी संकेत की सहायता से ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।

7. शुद्धता का आधार-शुद्धता का स्वरूप क्या है ?

वाचकपना अथवा अनादि काल से प्रयोग आना।

- |                                |  |
|--------------------------------|--|
| 1. वाचकपना                     | गौ की तरह गावी शब्दमें भी वह स्वरूप है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा गो शब्द की तरह गावी शब्द भी अर्थ का प्रतिपादक है।                       |
| 2. अनादिकाल से प्रयोग में आना  | गो और गावी में कोई भेद नहीं रहता, क्योंकि दोनों का प्रयोग अनादिकाल से चलता आ रहा है।   |
| 3. धर्म का साधन होना           | धर्म का साधन शुद्धता का आधार नहीं हो सकता है, क्योंकि धर्म के साधन साक्षात् और परम्परा रूप में होते हैं परम्परा रूप में प्राकृत शब्द भी होता है। |
| 4. विशिष्ट पुरुषों द्वारा रचित | संस्कृत और प्राकृत दोनों की व्याकरण विशिष्ट रूपों द्वारा रचित है।  |

5. विशिष्ट अर्थ का कहना संस्कृत और प्राकृत दोनों की व्याकरण विशिष्ट रूपों से रचित है।
6. व्याकरण से सिद्ध होना यदि प्राकृत व्याकरण भी व्याकरण नहीं तो संस्कृत व्याकरण भी व्याकरण नहीं।

8. संस्कृत वाणी बोलना चाहिये किन्तु कब बोलना चाहिये ? कर्मकाल अथवा अध्ययन काल में। यदि अध्ययन काल में संस्कृत भाषा बोलना चाहिये तो प्राकृत काल में प्राकृत भाषा बोलना चाहिये।

9. प्राकृत भाषा असाधु कैसे हो सकती है। अध्ययनकाल में यदि प्राकृत भाषा के न बोलने पर असाधु भाषा होगी। यदि एक के अध्ययन काल में दूसरे के प्रयोग न होने से दूसरा असाधु है तो पुराण का अध्ययन करते समय वेद वाक्यों का प्रयोग न होने से वेद वाक्य भी असाधु ठहरेंगे।

10. कर्मकाल में संस्कृतवाणी बोलना चाहिये तो उस समय प्राकृत क्यों बोलना चाहिये ? क्या प्राकृत शब्द अर्थ का कथन नहीं करते ? क्या वे अपशब्द है ? क्या वे अधर्म के कारण है ?

- अ) प्राकृत शब्दों से अर्थ की प्रतीति होती है।
- ब) प्राकृत शब्द अपशब्द नहीं है क्योंकि वे भी व्याकरण से सिद्ध है।
- स) प्राकृत भाषा अधर्म का कारण नहीं है।

अतः प्राकृत भाषा और अपभ्रंश भाषा द्वारा भी शुद्ध प्रयोग होता है और लौकिक पारलौकिक इच्छित फल की प्राप्ति होती है।



## शब्द नित्यवाद की समीक्षा

भारतीय दर्शन में शब्द पर बहुत विचार किया गया है। शब्द नित्य है या अनित्य। यह गंभीर ऊहापोह का विषय रहा है। मीमांसक दर्शन शब्द को नित्य मानता है। उस मत की शब्द संबंध मूल अवधारणा है कि यदि शब्द को अनित्य

माना जायेगा तो जिस शब्द में संकेत ग्रहण किया है वह शब्द व्यवहार काल में नहीं रह सकेगा। ऐसा होने से शब्द अर्थ का प्रतिपादक नहीं होगा अब यदि शब्द को नित्य माना जायेगा तो जो शब्द संकेत ग्रहण काल में हैं वही व्यवहार काल में भी रहेगा अतः शब्द अर्थ का प्रतिपादन कर सकेगा।

मीमांसक अपनी मूल अवधारणा का समर्थन करते हुये निम्न तर्क देते हैं -

**तर्क 1** - प्रमाण से शब्द की नित्यता सिद्ध होती है, उस प्रत्यभिज्ञान से शब्द की नित्यता सिद्ध होती है। वही यह 'ग' है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान से शब्दों में नित्यता प्रतीत होती है। प्रत्यभिज्ञान न तो अज्ञान रूप है, न तो संशय रूप प्रत्यभिज्ञान है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञान दोलायमान नहीं होता है।

प्रत्यभिज्ञान मिथ्याज्ञान रूप भी नहीं है जो ज्ञान बाधित होता है वही मिथ्याज्ञान होता है किन्तु प्रत्यभिज्ञान निर्बाध है।

**तर्क 2** - यह शब्द प्रत्यक्ष ही है क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय से ही यह वही 'ग' है यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान स्मरण पूर्वक होने पर भी इन्द्रिय और अर्थ का संबंध होने पर भी होता है अतः यह प्रत्यक्ष ही है।

**तर्क 3** - शब्द उच्चारण का जनक नहीं अभिव्यंजक है अतः शब्द नित्य है। अर्थात् उच्चारण के पूर्व विद्यमान शब्द ही व्यक्त होता है।

**तर्क 4** - अनुमान प्रमाण से भी शब्द के नित्यता सिद्ध होती है क्योंकि शब्द श्रवणेन्द्रिय का विषय है जो-जो श्रवणेन्द्रिय का विषय होता है वह-वह नित्य होता है जैसे - शब्दत्व।

**तर्क 5** - वाचक शब्द नित्य होता है क्योंकि वह वाच्य वाचक रूप संबंध बल से ज्ञान कराता है। जो संबंध बल से ज्ञान नहीं कराता वह अनित्य होता है।

**तर्क 6** - अर्थापत्ति प्रमाण से शब्द के नित्यता सिद्ध होती है। शब्द नित्य है यदि वह अनित्य होता है तो अर्थ का बोध नहीं कराता, शब्दों के समानता सिद्ध नहीं होती। अतः अर्थापत्ति से शब्द की नित्यता सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं है।

मीमांसक विचारकों के शब्द नित्य सिद्ध करने वाले समस्त तर्कों को सुनने के बाद जैन दार्शनिक मीमांसक के तर्कों को मूल से ही अस्वीकार करते हैं। शब्द को अनित्य मानते हुये अपने तर्क देते हैं। वे तर्क इस प्रकार हैं -

**तर्क 1** - यह 'वही गकार है' इस प्रत्यभिज्ञान के द्वारा शब्द का नित्य सिद्ध करना विचारपूर्वक कथन नहीं है। यह प्रत्यभिज्ञान सदृश्य मूलक है। अतः उससे गकार का एकत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। नख कट जाने के बाद पुनः उत्पन्न हुआ यह वही पुराना नख है, नहीं कहा जा सकता है। नख में एकत्व सिद्ध नहीं होता है। शब्द के कारण तालु आदि का संयोग विभाग वगैरह का भी उत्तरोत्तर क्षय देखा जाता है। अतः शब्द भी प्रतिसमय अन्य-अन्य होता है। इसलिये शब्द एक नहीं है।

मीमांसक कह सकते हैं तालु आदि का संयोग और विभाग शब्द को व्यक्त करने वाली वायु को उत्पन्न करता है शब्द को वही इस मीमांसक के वाचक तर्क का उत्तर देते हुये जैनाचार्य कहते हैं तो गत्ती तेरम और आग के संयोग से भी दीपक उत्पन्न नहीं होता है। किन्तु दीपक को व्यक्त करने वाली वायु उत्पन्न होती है।

शब्द की नित्यता प्रत्यभिज्ञान से सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि शब्द को हम प्रत्यक्ष से उत्पन्न और नष्ट होते हुये देखते हैं। प्रत्येक प्राणी को इन्द्रिय व्यापार के बाद ही प्रतीति होती है, यह वही शब्द है, यह प्रत्यभिज्ञान सादृश्य मूलक होने से मिथ्या है। अतः वह शब्द नित्य सिद्ध नहीं हो सकता है।

उच्चारण की दृष्टि से शब्द नित्य सिद्ध नहीं हो सकता है।

शब्द उच्चारण से पहले अनुपलम्भ क्यों होता है ?

1. क्या इन्द्रिय का अभाव होने से शब्द उच्चारण के पहले अनुपलम्भ होता है। यदि शब्द इन्द्रिय अभाव के कारण अनुपलम्भ माना जायेगा तो उच्चारण के बाद शब्द का ज्ञान नहीं होना चाहिये। संभवतः कहा जाये कि उच्चारण से

पहले शब्द की ग्राहक श्रोत्र इन्द्रिय नहीं थी उच्चारण के समय ही शब्द के साथ इन्द्रिय उत्पन्न हो जाती है तो यह संभावना प्रतीति विरुद्ध ही है।

2. क्या शब्द के निकट होने से उच्चारण के पहले शब्द अनुपलब्ध रहता है ?

शब्द नित्य और व्यापक हो तो वह सर्वत्र ही पाया जायेगा। अतः यह संभावना भी असिद्ध है।

3. शब्द के आवृत्त होने से उच्चारण के पहले शब्द अनुपलब्ध होता है। यह विकल्प तर्क भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि जब शब्द नित्य है और एक स्वभाव वाला है तो वह आवृत्त हो नहीं सकता है। दृश्य स्वभाव छोड़कर अदृश्य स्वभाव स्वीकार किये बिना कोई भी नहीं हो सकता है। ऐसा मानने पर कोई नित्य एक स्वभाव वाला नहीं रह सकता है।

4. व्यंजक व्यापार के पहले शब्द का अस्तित्व किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है।

शब्दों के आवरण मानने पर आवरण की स्थिति दृश्य रूप होगी या अदृश्य रूप होगी, नित्य रूप होगी या अनित्य रूप होगी, व्यापक रूप होगी अथवा अव्यापक रूप होगी, एक रूप होगी या अनेकरूप होगी।

क्र. शब्द के आवरण को	बाधा
1. दृश्य रूप मानने पर	प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीति का अभाव है यदि प्रत्यक्ष प्रतीति होती है तो विवाद ही नहीं होता।
2. अदृश्य मानने पर	उसका अस्तित्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है। इतरेतराश्रय दोष आता है।
3. नित्य रूप मानने पर	शब्द की कभी उपलब्धि नहीं हो सकेगी।
4. अनित्य रूप मानने पर	एक बार नष्ट होने पर पुनः उत्पन्न होने का कौन-सा कारण होगा।

5. व्यापक रूप मानने पर असंभवदोष क्योंकि आवरणरूप वायु अव्यापक है यदि वायु को व्यापक मान लेंगे तो शब्द व्यापक और व्यापक तो आवृत्त कौन-किसको करेगा ?
6. अव्यापक रूप मानने पर उपरोक्त दोष
7. एक रूप मानने पर एक शब्द की उपलब्धि होने पर सब शब्दों की उपलब्धि होगी।
8. अनेक रूप मानने पर आवरण भेद और व्यंजक रूप नहीं बनता क्योंकि शब्दों का एक देश और एक ही इन्द्रिय होती है तथा शब्द की व्यंजक ध्वनि किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती है।

#### अर्थापत्ति प्रमाण से शब्द की नित्यता असिद्धि -

मीमांसक मानते हैं कि शब्द नित्य है वह उत्पन्न नहीं होता है, केवल संस्कार ही किया जाता है। यदि ध्वनियाँ न होती तो वह विशिष्ट संस्कार न होते।

जैनाचार्य मीमांसकों के संस्कार संबंधी धारणा को खंडित करते हुये स्पष्ट करते हैं।

#### स्पष्टीकरण -

क्र. शब्द संस्कार से आशय	बाधा
1. शब्द की उपलब्धि रूप मानने	ध्वनि अस्तित्व कैसे माना जा सकता है, क्योंकि शब्द की उपलब्धि तो शब्द और श्रोत्र के होने पर होती है।
2. शब्द में किसी अतिशय का देखा जाना है तो शब्द से अतिशय भिन्न	शब्द कुछ भी नहीं रहेगा और अतिशय के रहने पर भी शब्द सुनाई नहीं देगा।

3. शब्दसे अतिशय अभिन्न है अतिशय की तरह शब्द भी उत्पन्न हुआ ही मानना होगा और शब्द अनित्य ठहरेगा।
4. ध्वनियाँ श्रोत्र देश में ही शब्द का संस्कार करती है अथवा सर्वत्र करेगी तो शब्द अव्यापक हो जायेगा और शब्द निरंशता का घात हो जायेगा।
5. शब्द के स्वरूप की पुष्टि रूप संस्कार नित्य शब्द का स्वभाव नहीं बदला जा सकता है।
6. व्यंजकों की निकट रूप संस्कार फिर तो सर्वत्र सर्वदा सब लोग शब्द सुन सकेंगे।
7. आवरण का हट जाने एक साथ सब शब्दों की उपलब्धि होने का प्रसंग।

इन्द्रिय संस्कार रूप अभिव्यक्ति की अविचारपूर्ण है क्योंकि श्रोत्र का एक बार संस्कार होने पर एक साथ समस्त शब्दों को ग्रहण करने का प्रसंग आता है।

उभयरूप संस्कार मानने पर शब्द और इन्द्रिय संस्कार में दिये गये सभी दोष आते हैं। शब्द तालु आदि के व्यापार से उत्पन्न होता है।

उच्चारण के पश्चात् गकार आदि का नाश प्रत्यक्ष से देखा जाता है। गकार आदि के नित्यपने का अनुमान अबाधित नहीं होता है। इस तरह से बिजली आदि के भी नित्यपना सिद्ध हो जायेगा। शब्द को नित्य मानना प्रतीति विरुद्ध है। मीमांसकों ने ध्वनि के उदात्त आदि धर्म श्रवण के विषय होने से नित्य माना है। यदि उदात्त आदि धर्म श्रवणेन्द्रिय के विषय नहीं है तो श्रोत्र के द्वारा शब्दगत धर्म रूप उनकी उपलब्धि नहीं होना चाहिये।

**तर्क** - विभिन्न देश और काल में जो गो शब्द आदि पाये जाते हैं वे सब एक ही गो के विषय है किन्तु यह तर्क ठीक नहीं क्योंकि लिपि रूप और गो शब्द बुद्धि से व्यभिचार आता है।



**तर्क** - जो गो शब्द कल था वही आज भी है यह तर्क भी ठीक नहीं है, क्योंकि कल के गो शब्द में आज के गो शब्द में भिन्नता प्रत्यक्ष सिद्ध है। अन्यथा कल के और आज के विद्युत प्रकाश को एक मानना पड़ेगा।

शब्द नित्य है अन्यथा उससे अर्थ बोध नहीं हो सकता है। यह भी तर्क गलत है क्योंकि धर्म आदि अनित्य सदृश्यता के कारण अनित्य धूम से अग्नि का ज्ञान होता है।

**निष्कर्ष** - अतः शब्द अनित्य है क्योंकि वह कार्य रूप है।



## स्फोटवाद और उसकी समीक्षा

भृहृरि के वाक्य पदीय ग्रन्थ में स्फोटवाद का उल्लेख विशेष तौर पर है। स्फोटवाद की मूल अवधारणा है कि वर्ण, पद और वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नहीं है। यदि वे अर्थ के प्रतिपादक है तो समस्त वर्ण अर्थ के प्रतिपादक है अथवा व्यस्त अर्थात् अलग-अलग रूप से समस्त अर्थात् सामूहिक रूप से अर्थ के प्रतिपादक है। व्यस्त रूप से कोई अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि एक वर्ण से अर्थ का प्रतिपादन हो जाने के बाद अन्य वर्णों की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। यदि समस्त वर्ण अर्थ का प्रतिपादन करते हैं तो यह संभव नहीं है क्योंकि क्रम से उत्पन्न और नष्ट होते वर्णों में समस्तपना या समूहपना होना असंभव है। यदि कोई कहें कि सब वर्ण एक साथ उत्पन्न हो जायेंगे। अतः उनका समुदाय बन जायेगा किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि एक पुरुष सब वर्णों को एक साथ उत्पन्न नहीं कर सकता। क्योंकि प्रत्येक वर्ण निश्चित स्थान करण और प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं।

1. संभवतः कोई कहे गकार का उच्चारण करें तो दूसरा औंकार का उच्चारण करें तो दोनों समुदाय से गौ शब्द की प्रतीति हो जायेगी किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। कारण की निश्चित वर्णों की क्रम से प्रतिपत्ति होने के बाद ही शब्द की प्रतीति होती है।

2. अन्य वर्णों की अपेक्षा ना करके गौ शब्द का अन्तिम वर्णों औ ही अर्थ का प्रतिपादक है किन्तु ऐसा यथार्थ नहीं है। यदि औ शब्द अर्थ का प्रतिपादक हो जाए तो गाकार व्यर्थ हो जाएगा।

**निष्कर्ष** - ना गा वर्ण से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है ना औ से अपितु इन दोनों के बीच में से एक स्फोट तत्व होता है वही अर्थ का प्रतिपादक होता है।

3. स्फोट तत्त्व नित्य होता है। उसे अनित्य नहीं माना जा सकता है। क्योंकि कालान्तर देशान्तर में उसी शब्द की प्रतीति होती है नित्य एक अखण्ड स्फोट ही अर्थ की प्रतिपत्ति में जरूरी है वर्ण ध्वनि उस स्फोट को ही अभिव्यक्त करके नष्ट हो जाती है।

4. **जैन पक्ष** - स्फोटवाद के स्फोटतत्व को अस्वीकार करते हुये जैनाचार्य अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं वे निम्न हैं -

अ) वर्णों के नाश होने से बचे हुये अन्तिम वर्ण से ही अर्थ का बोध हो जाता है अथवा पूर्व वर्ण के अर्थ के ज्ञान सहित अर्थ की प्रतिपत्ति कराता है। इसका क्रम इस प्रकार है कि प्रथम वर्ण का ज्ञान उससे संस्कार की उत्पत्ति फिर दूसरे वर्ण का ज्ञान के संस्कार सहित उस ज्ञान से विशेष संस्कार का जन्म इसी प्रकार तीसरे वर्ण के विषय में भी अर्थ की अन्तिम वर्ण तक यही क्रम चलता रहता है अथवा शब्दार्थ की उत्पत्ति में निमित्त अदृश्य की नियामकता के कारण अविनष्ट (विनिष्ट नहीं हुआ) पूर्व वर्ण का ज्ञान और उनके संस्कार और अन्तिम वर्ण के संस्कार से उत्पन्न स्मृति की सहायता से अन्तिम वर्ण पदार्थ का ज्ञान कराता है। इसी तरह वाक्य भी अर्थ का ज्ञान कराता है। अतः स्फोट की कल्पना व्यर्थ है। क्योंकि स्फोट के अभाव में भी अर्थ का प्रतिपादन होता है।

ब) यदि समस्त ज्ञान समस्त अथवा व्यस्त वर्ण अर्थ का ज्ञान कराने में असमर्थ है तो वे वर्ण स्फोट अभिव्यक्ति के सिवाय कोई दूसरा अविकार नहीं हो सकता है।

स) वर्णों के द्वारा होने वाला यह संस्कार ही उसका स्फोट है या उसका धर्म है।

यदि धर्मों के द्वारा किये जाने वाले संस्कार का नाम ही स्फोट है, तो स्फोट वर्णों के द्वारा उत्पन्न हुआ कहा जायेगा यदि वर्णों के द्वारा उत्पन्न संस्कार उसका स्फोट न होकर धर्म है। यदि धर्म हैं तो वह भिन्न है अथवा अभिन्न यदि धर्म से स्फोट अभिन्न है। तो वर्णों के द्वारा ही उस स्फोट की उत्पत्ति हुई और ऐसा होने से स्फोट अनित्य हो जायेगा। यदि संस्कार स्फोट से भिन्न है तो यह संस्कार स्फोट का है तो यह संबंध नहीं बन सकता है क्योंकि वह उसका उपकार नहीं करता है।

द) यदि संस्कार स्फोट का कुछ उपकार करता है तो वह उपकार से भिन्न है अथवा अभिन्न मानने पर स्फोट अनित्य सिद्ध होगा और भिन्न मानने पर उपकार स्फोट और संबंध नहीं बन पायेगा।

### 5) स्फोट के संस्कार से क्या तात्पर्य है -

अ) स्फोटक विषयज्ञ ज्ञान होना अथवा स्फोट के ऊपर से आवरण हटना यदि संस्कार से मतलब आवरण हट जाने से हैं तो एक बार आवरण हट जाने पर सर्वदा सब पुरुषों के स्फोट की अभिव्यक्ति का प्रसंग आ जायेगा क्योंकि आपने स्फोट को नित्य एक माना है और यदि स्फोट पूरा ना हटकर आंशिक रूप से हटेगा तो स्फोट सावयव और अनित्य सिद्ध होगा और यदि आप स्फोट को निवारण मानेंगे तो स्फोट निरावरण और सर्वत्र ( सब मनुष्यों को उपलब्धि का प्रसंग) होगा।

ब) यदि संस्कार से मतलब स्फोट विषयज्ञ ज्ञान से है तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे वर्ण अर्थ का ज्ञान नहीं करते हैं वैसे ही स्फोट का ज्ञान भी नहीं कर सकते हैं।

6. वैयाकरण विद्वानों का कहना है कि पूर्व वर्णों के ज्ञान के संस्कार से युक्त आत्मा को वर्ण सुनने के बाद स्फोट की अभिव्यक्ति होती है इस तर्क का खण्डन करते हुये जैनाचार्य कहते हैं कि यदि पूर्व वर्णों के ज्ञान से संस्कार से युक्त आत्मा को अंतिम वर्ण सुनने के बाद पदार्थ का ज्ञान हो जायेगा तो स्फोट की आवश्यकता क्या रही ?

7. ऐसी परिस्थिति में चिदात्मा का नाम ही स्फोट क्यों नहीं रखना चाहिये जिसमें अर्थ स्फुट हो उसे स्फोट कहते हैं अतः चिदात्मा के सिवाय स्फोट नाम का कोई तत्त्व नहीं होगा।

8. वायु स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं करती है। यदि वायु स्फोट को अभिव्यक्ति करने लगे तो वर्णों की कल्पना व्यर्थ हो जायेगी क्योंकि वैयाकरण मत वाले वर्णों को ना तो स्फोट की अभिव्यक्ति मानते हैं ना अर्थ की प्रतिपत्ति।

9. वायु की उत्पत्ति से पहले यदि स्फोट का सद्भाव है तो वर्ण अथवा वायु को स्फोट के अभिव्यंजक मानना उचित हो सकता है।

10. स्फोट का सद्भाव किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है।

**निष्कर्ष** - अतः विचार करने के बाद स्फोट का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है। इसलिये स्फोट को पदार्थ की प्रतिपत्ति का कारण नहीं माना जा सकता किन्तु गौ आदि शब्द को ही अर्थ प्रतिपत्ति का कारण मानना चाहिये।



